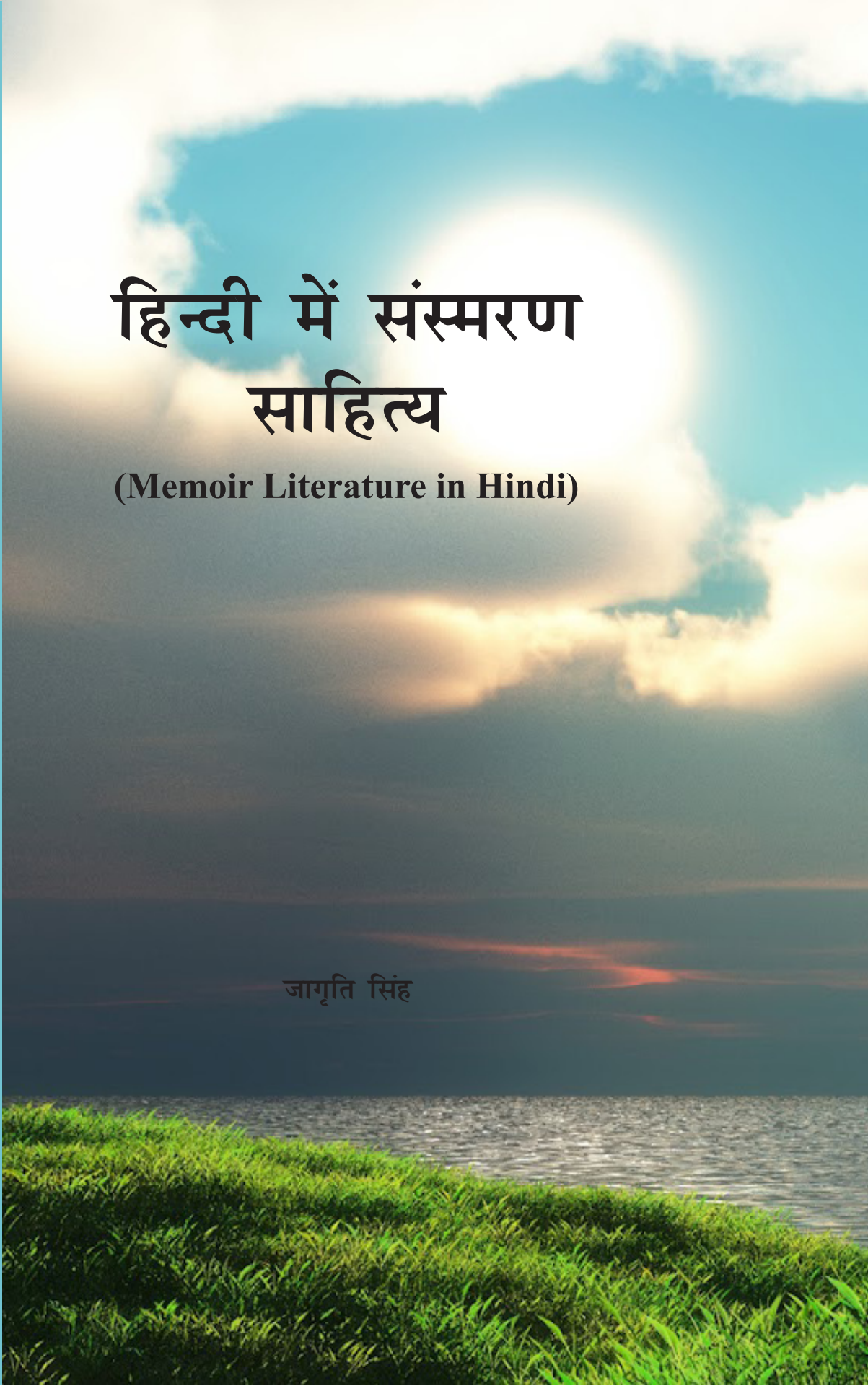

हिन्दी में संस्मरण साहित्य

(Memoir Literature in Hindi)

जागृति सिंह

हिन्दी में संस्मरण साहित्य

हिन्दी में संस्मरण साहित्य
(Memoir Literature in Hindi)

जागृति सिंह

भाषा प्रकाशन
नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5611-0

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

हिन्दी के संस्मरण लेखकों में बनारसीदास चतुर्वेदी, महादेवी वर्मा तथा रामवृक्ष बेनीपुरी आदि हैं। चतुर्वेदी ने 'संस्मरण' तथा 'हमारे अपराध' शीर्षक कृतियों में अपने विविध संस्मरण आकर्षक शैली में लिखे हैं। हिन्दी के अनेक अन्य लेखकों तथा लेखिकाओं ने भी बहुत अच्छे संस्मरण लिखे हैं। उनमें से कुछ साहित्यकारों का उल्लेख करना प्रासंगिक होगा। श्रीमती महादेवी वर्मा की 'स्मृति की रेखाएँ' तथा 'अतीत के चलचित्र' संस्मरण साहित्य की श्रेष्ठ कृतियाँ हैं। रामबृक्ष बेनीपुरी की कृति 'माटी की मूरतें' में जीवन में अनायास मिलने वाले सामान्य व्यक्तियों का सजीव एवं संवेदनात्मक कोमल चित्रण किया गया है।

इनके अतिरिक्त देवेन्द्र सत्यार्थी ने लोकगीतों का संग्रह करने हेतु देश के विभिन्न क्षेत्रों की यात्रायें की थीं, इन स्थानों के संस्मरणों को भावात्मक शैली में उन्होंने लिखा है। 'क्या गोरी क्या साँवली' तथा 'रेखाएँ बोल उठीं' सत्यार्थी के संस्मरणों के अपने ढंग के संग्रह हैं। भदन्त-आनन्द कोसल्यायन ने अपने यात्रा जीवन की विविध घटनाओं तथा परिस्थितियों के संदर्भ में जो अनेक पात्र मिले, उनके सम्बन्ध में अपने संस्मरणात्मक आलेखों को दो संकलनों 'जो न भूल सका' तथा 'जो लिखना पड़ा' में संगृहीत किया है।

कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर ने 'भूले हुए चेहरे' तथा 'दीपजले शंख बजे' में अपने कतिपय अच्छे और आकर्षक संस्मरण संकलित किये। संस्मरण को साहित्यिक निबन्ध की एक प्रवृत्ति भी माना जा सकता है। ऐसी रचनाओं को संस्मरणात्मक निबंध कहा जा सकता है। गुलाबराय की कृति 'मेरी असफलताएँ' को संस्मरणात्मक निबन्ध की कोटि में रखा जा सकता है। हिन्दी के अन्य अनेक

लेखकों ने भी अच्छे संस्मरण लिखे हैं जिनमें प्रमुख हैं–राजा राधिकारमण सिंह की 'सावनी समां, और 'सूरदास', रामधारी सिंह 'दिनकर' की 'लोकदेव नेहरू' व 'संस्मरण और श्रद्धांजलियाँ', डॉ. रामकुमार वर्मा कृत 'संस्मरणों के सुमन' आदि।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करती हूँ। आशा करती हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी होगी।

–लेखिका

अनुक्रम

प्रस्तावना *v*

1. संस्मरण **1**

इतिहास 1

हिन्दी में संस्मरण 2

हिन्दी संस्मरण का इतिहास 2

आरंभिक युग 3

द्विवेदी युग 3

छायावादोत्तर युग 3

स्वातंत्र्योत्तर युग 4

2. हिंदी के 10 श्रेष्ठ यात्रा संस्मरण **6**

यात्रा का आनंद: दत्तात्रेय बालकृष्ण 'काका' कालेलकर 6

किन्नर देश में: राहुल सांकृत्यायन 7

अरे यायावर रहेगा याद: सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' 7

ऋणजल धनजल: फणीश्वरनाथ रेणु 8

आखिरी चट्टान तक: मोहन राकेश 9

चीड़ों पर चांदनी: निर्मल वर्मा 9

स्पीति में बारिश: कृष्णनाथ 10

यूरोप के स्केच: रामकुमार 11

बुद्ध का कमण्डल लद्दाख: कृष्णा सोबती 11

तीरे तीरे नर्मदा: अमृतलाल वेगड़ 12

संस्मरण के अंग अथवा तत्त्व 19
आत्मीय एवं श्रद्धापूर्ण अन्तरंग सम्बन्ध 20
3. महावीर प्रसाद द्विवेदी 23
जीवन परिचय 23
प्रकाशित कृतियाँ 24
मौलिक पद्य रचनाएँ 25
मौलिक गद्य रचनाएँ 26
वर्ण्य विषय 28
विचारात्मक अथवा गवेषणात्मक शैली 29
4. महादेवी वर्मा 31
जीवनी 32
कार्यक्षेत्र 34
प्रमुख कृतियाँ 35
महादेवी की काव्यगत विशेषताएँ 36
पुरस्कार व सम्मान 38
पथ के साथी 40
मेरा परिवार 45
5. अज्ञेयः संस्मरण 47
जीवन परिचय 47
कार्यक्षेत्र 48
प्रमुख कृतियां 48
अज्ञेय रचनावली 49
6. इलाचन्द्र जोशी 64
प्रतिभा सम्पन्न 64
उपन्यासकार 64
लेखन के विषय 66
7. रामनरेश त्रिपाठी 69
जीवनी 69
प्रसिद्ध कृतियाँ 72
8. रामधारी सिंह 'दिनकर' 74
जीवनी 74

प्रमुख कृतियाँ 76
काव्य 77
9. काशीनाथ सिंह 82
जीवन परिचय 82
साहित्य सृजन 83
प्रकाशित कृतियाँ 83
10. विश्वनाथ त्रिपाठी 96
जीवन परिचय 96
रचनात्मक परिचय 96
मध्ययुगीन काव्य के समकालीन समीक्षक 97
समकालीनता के प्रेरक पर्यवेक्षक 98
11. सुमित्रानन्दन पन्त 103
साहित्य सृजन 104
विचारधारा 105
पुरस्कार व सम्मान 106
साहित्यिक परिचय 107
स्वतंत्रता संग्राम में योगदान 108
प्रकृति-प्रेमी कवि 112
भाव पक्ष 113
12. कृष्णा सोबती 116
जीवन परिचय 116
प्रकाशित कृतियाँ 117
13. शंकर दयाल सिंह 119
जन्म और जीवन 119
विविध कार्य 120
राजनीति की धूप 120
साहित्य की छाँव 121
14. राजेन्द्र यादव 125
प्रकाशित पुस्तकें 125
समीक्षा-निबन्ध 127
सम्पादन 127

मुख्य रचनाएँ 127
15. रामदरश मिश्र **129**
प्रारंभिक जीवन 129
साहित्यसेवा 130
16. विश्वनाथप्रसाद तिवारी **134**
परिचय 134
रचनाएँ 135

1

संस्मरण

स्मृति के आधार पर किसी विषय पर अथवा किसी व्यक्ति पर लिखित आलेख संस्मरण कहलाता है। यात्रा साहित्य भी इसके अन्तर्गत आता है। संस्मरण को साहित्यिक निबन्ध की एक प्रवृत्ति भी माना जा सकता है। ऐसी रचनाओं को 'संस्मरणात्मक निबंध' कहा जा सकता है। व्यापक रूप से संस्मरण आत्मचरित के अन्तर्गत लिया जा सकता है। किन्तु संस्मरण और आत्मचरित के दृष्टिकोण में मौलिक अन्तर है। आत्मचरित के लेखक का मुख्य उद्देश्य अपनी जीवनकथा का वर्णन करना होता है। इसमें कथा का प्रमुख पात्र स्वयं लेखक होता है। संस्मरण लेखक का दृष्टिकोण भिन्न रहता है। संस्मरण में लेखक जो कुछ स्वयं देखता है और स्वयं अनुभव करता है, उसी का चित्रण करता है। लेखक की स्वयं की अनुभूतियाँ तथा संवेदनायें संस्मरण में अन्तर्निहित रहती हैं। इस दृष्टि से संस्मरण का लेखक निबन्धकार के अधिक निकट है। वह अपने चारों ओर के जीवन का वर्णन करता है। इतिहासकार के समान वह केवल यथातथ्य विवरण प्रस्तुत नहीं करता है। पाश्चात्य साहित्य में साहित्यकारों के अतिरिक्त अनेक राजनेताओं तथा सेनानायकों ने भी अपने संस्मरण लिखे हैं, जिनका साहित्यिक महत्त्व स्वीकारा गया है।

इतिहास

संस्मरणों को साहित्यिक रूप में लिखे जाने का प्रचलन आधुनिक काल में पाश्चात्य प्रभाव के कारण हुआ है। किन्तु हिन्दी साहित्य में संस्मरणात्मक आलेखों की गद्य विधा का पर्याप्त विकास हुआ है। संस्मरण

लेखन के क्षेत्र में हमें अत्यन्त प्रौढ़ तथा श्रेष्ठ रचनायें हिन्दी साहित्य में उपलब्ध होती हैं।

हिन्दी में संस्मरण

हिन्दी के संस्मरण लेखकों में बनारसीदास चतुर्वेदी, महादेवी वर्मा तथा रामवृक्ष बेनीपुरी आदि हैं। चतुर्वेदी ने 'संस्मरण' तथा 'हमारे अपराध' शीर्षक कृतियों में अपने विविध संस्मरण आकर्षक शैली में लिखे हैं। हिन्दी के अनेक अन्य लेखकों तथा लेखिकाओं ने भी बहुत अच्छे संस्मरण लिखे हैं। उनमें से कुछ साहित्यकारों का उल्लेख करना प्रासंगिक होगा। श्रीमती महादेवी वर्मा की 'स्मृति की रेखाएँ' तथा 'अतीत के चलचित्र' संस्मरण साहित्य की श्रेष्ठ कृतियाँ हैं। रामबृक्ष बेनीपुरी की कृति 'माटी की मूरतें' में जीवन में अनायास मिलने वाले सामान्य व्यक्तियों का सजीव एवं संवेदनात्मक कोमल चित्र्ण किया गया है।

इनके अतिरिक्त देवेन्द्र सत्यार्थी ने लोकगीतों का संग्रह करने हेतु देश के विभिन्न क्षेत्रों की यात्रायें की थीं, इन स्थानों के संस्मरणों को भावात्मक शैली में उन्होंने लिखा है। 'क्या गोरी क्या साँवली' तथा 'रेखाएँ बोल उठीं' सत्यार्थी के संस्मरणों के अपने ढंग के संग्रह हैं। भदन्त-आनन्द कोसल्यायन ने अपने यात्रा जीवन की विविध घटनाओं तथा परिस्थितियों के संदर्भ में जो अनेक पात्र मिले, उनके सम्बन्ध में अपने संस्मरणात्मक आलेखों को दो संकलनों 'जो न भूल सका' तथा 'जो लिखना पड़ा' में संगृहीत किया है। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर ने 'भूले हुए चेहरे' तथा 'दीपजले शंख बजे' में अपने कतिपय अच्छे और आकर्षक संस्मरण संकलित किये। संस्मरण को साहित्यिक निबन्ध की एक प्रवृत्ति भी माना जा सकता है। ऐसी रचनाओं को संस्मरणात्मक निबंध कहा जा सकता है। गुलाबराय की कृति 'मेरी असफलताएँ' को संस्मरणात्मक निबन्ध की कोटि में रखा जा सकता है। हिन्दी के अन्य अनेक लेखकों ने भी अच्छे संस्मरण लिखे हैं जिनमे प्रमुख है राजा राधिकारमण सिंह की 'सावनी समां, और 'सूरदास', रामधारी सिंह 'दिनकर' की 'लोकदेव नेहरु' व 'संस्मरण और श्रद्धांजलियाँ', डॉ रामकुमार वर्मा कृत 'संस्मरणों के सुमन' आदि।

हिन्दी संस्मरण का इतिहास

संस्मरण और रेखाचित्र में बहुत सूक्ष्म अंतर है। कुछ विद्वानों ने तो इन दोनों विधाओं को एक-दूसरे की पूरक विधा भी कहा है। संस्मरण का सामान्य अर्थ

होता है सम्यक् स्मरण। सामान्यत: इसमें चारित्रिक गुणों से युक्त किसी महान व्यक्ति को याद करते हुए उसके परिवेश के साथ उसका प्रभावशाली वर्णन किया जाता है। इसमें लेखक स्वानुभूत विषय का यथावत अंकन न करके उसका पुनर्सृजन करता है। रेखाचित्र की तरह यह वर्ण्य विषय के प्रति तटस्थ नहीं होता। आत्मकथात्मक विधा होते हुए भी संस्मरण आत्मकथा से पर्याप्त भिन्नता रखता है।

आरंभिक युग

बालमुकुंद गुप्त द्वारा सन् 1907 में प्रतापनारायण मिश्र पर लिखे संस्मरण को हिंदी का प्रथम संस्मरण माना जाता है। बाद में इस काल की एकमात्र संस्मरण पुस्तक 'हरिऔध' पर केंद्रित गुप्त जी द्वारा लिखित 'हरिऔध' के संस्मरण' के नाम से प्रकाशित हुई। इसमें हरिऔध को वर्ण्य विषय बनाकर पंद्रह संस्मरणों की रचना की गई है।

द्विवेदी युग

हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं ने गद्य विधाओं के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। 'सरस्वती' में स्वयं महावीर प्रसाद द्विवेदी ने कई संस्मरण लिखे। उन्होंने अपने साथी लेखकों को नई गद्य विधाओं के लिए प्रेरित भी किया। इस समय के प्रमुख संस्मरण लेखकों में द्विवेदी जी के अतिरिक्त रामकुमार खेमका, काशी प्रसाद जायसवाल और श्यामसुंदर दास हैं। श्यामसुंदर दास ने लाला भगवानदीन पर रोचक संस्मरण लिखे। अपने समकालीन साहित्यकारों पर उस समय से आरंभ हुई परंपरा आज तक लगातार चल रही है।

छायावादोत्तर युग

रेखाचित्र की तरह ही संस्मरण को गद्य की विशिष्ट विधा के रूप में स्थापित करने की दिशा में भी पद्म सिंह शर्मा (1876-1932) का महत्त्वपूर्ण योगदान माना जाता है। इनके संस्मरण 'प्रबंध मंजरी' और 'पद्म पराग' में संकलित हैं। महाकवि अकबर, सत्यनारायण कविरत्न और भीमसेन शर्मा आदि पर लिखे हुए इनके संस्मरणों ने इस विधा को स्थिरता प्रदान करने में मदद की। विनोद की एक हल्की रेखा इनकी पूरी रचनाओं के भीतर देखी जा सकती है।

महादेवी वर्मा ने अपने संस्मरणों में अपने जीवन में आए अनमोल पलों को अपने 'पथ के साथी' में संकलित किया है। अपने समकालीन साहित्यकारों पर इन रेखाचित्रों में अब तक किसी भी लेखक द्वारा लिखी गई सर्वश्रेष्ठ टिप्पणी कहें तो इसमें कोई अतिशयोक्ति की बात न होगी।

निराला के 'बिल्लेसुर का बकरिहा' और 'कुल्लीभाट' में संस्मरण और रेखाचित्र का अनुपम संयोग हुआ है। इन्हें किसी एक विधा के अन्तर्गत रखना संभव नहीं है, लेकिन अपनी सजीवता और व्यंग्य के कारण इन्हें अप्रतिम कहा जा सकता है।

प्रकाशचंद गुप्त ने 'पुरानी स्मृतियाँ' नामक संग्रह में अपने संस्मरणों को लिपिबद्ध किया। इलाचंद्र जोशी कृत 'मेरे प्राथमिक जीवन की स्मृतियाँ' और वृंदावनलाल वर्मा कृत 'कुछ संस्मरण' इस काल की उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

स्वातंत्र्योत्तर युग

सन् 1950 के आस-पास का समय संस्मरण लेखन की दृष्टि से विशेष महत्त्व का है। इस समय अनेक लेखक संस्मरणों की रचना कर रहे थे। बनारसीदास चतुर्वेदी को संस्मरण लेखन के क्षेत्र में विशेष सफलता मिली। पेशे से साहित्यिक पत्रकार होने के कारण इनके संस्मरणों के विषय बहुत व्यापक हैं। अपनी कृति 'संस्मरण' में संकलित रचनाओं की शैली पर इनके मानवीय पक्ष की प्रबलता को साफ देखा जा सकता है। इनके संस्मरण रोचकता के लिए विशेष प्रसिद्ध हुए। शैली वर्णनात्मक है और भाषा अत्यंत सरल है। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर ने अपनी कृतियों 'भूले हुए चेहरे' तथा 'दीप जले शंख बजे' के कारण इस समय के एक अन्य महत्त्वपूर्ण संस्मरण लेखक हैं। लगभग इसी समय उपेंद्रनाथ अश्क का 'मंटो मेरा दुश्मन' प्रकाशित हुआ, जिसका साहित्यिक और गैर-साहित्यिक दोनों स्थानों पर भरपूर स्वागत हुआ। जगदीशचंद्र माथुर ने 'दस तस्वीरें' और 'जिन्होंने जीना जाना' के माध्यम से अपने समय की महत्वपूर्ण संस्मरणात्मक चित्र प्रस्तुत किए।

संस्मरण और रेखाचित्रों में कोई भी तात्विक भेद नहीं मानने वाले आलोचक डा. नगेन्द्र ने 'चेतना के बिंब' नाम की कृति के माध्यम से इस विधा को समृद्ध किया। प्रभाकर माचवे, विष्णु प्रभाकर, अज्ञेय और कमलेश्वर इस समय के अन्य प्रमुख संस्मरण लेखक रहे हैं।

समकालीन युग

समकालीन लेखन में आत्मकथात्मक विधाओं की भरमार है। संस्मरण आज बहुतायत में लिखे जा रहे हैं। अपने अतीत को बयान करने की ललक हर आदमी के भीतर होती है और उसकी अभिव्यक्ति करना अन्य विधाओं की तुलना में काफी आसान होता है। डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी द्वारा नामवर सिंह पर लिखित संस्मरण 'हक अदा न हुआ' ने इस विधा को नई ताजगी से भर दिया है और इससे प्रभावित होकर कई नए और पुराने लेखक इस ओर मुड़े हैं। इनकी सद्य प्रकाशित पुस्तक 'नंगातलाई का गांव' (2004) को उन्होंने स्मृति आख्यान कहा है। वर्तमान समय के संस्मरण लेखकों में काशीनाथ सिंह, कांतिकुमार जैन, राजेंद्र यादव, रवीन्द्र कालिया, ममता कालिया अखिलेश का नाम काफी प्रमुखता से ले सकते हैं।

2

हिंदी के 10 श्रेष्ठ यात्रा संस्मरण

हिन्दी में यात्रा संस्मरण तो बहुत हैं। उनमें से श्रेष्ठ दस कृतियां चुनना बहुत मुश्किल काम था। लेकिन मैंने अपने विवेक से जो रचनाएं चुनीं, वे इस प्रकार हैं–

यात्रा का आनंदः दत्तात्रेय बालकृष्ण 'काका' कालेलकर

काका कालेलकर शुरू में गुजराती में लिखते थे। उनकी 'हिमालय यात्रा' अनुदित होकर हिंदी में छपी थी। बाद में वो हिंदी में ही लिखने लगे।

उन्हें यात्राओं में बहुत आनंद आता था। देश और विदेश में अनेक प्रवास उन्होंने लिपिबद्ध किए। भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद के उपाध्यक्ष होने पर सुदूर विदेश यात्राओं का सुयोग भी मिला।

उनका कोई साढ़े तीन सौ पृष्ठों का संकलन 'यात्रा का आनंद' बहुत महत्त्वपूर्ण कृति है। वह बिहार राष्ट्रभाषा परिषद से छपी थी।

संकलित यात्रा-वृत्तांत विभिन्न रूपों में हैं - संस्मरण की शैली में, लेख रूप में, पत्रों की शक्ल में।

करसियांग, नीलगिरि, अजंता, सतपुड़ा, गंगोत्री आदि की भारतीय यात्राओं के साथ अफ्रीका, यूरोप, उत्तरी और दक्षिणी अमरीका आदि की कोई सौ यात्राओं का ब्योरा हमें इस पुस्तक में मिलता है - जमैका, त्रिनिदाद और (ब्रिटिश) गुयाना तक का।

लेखक की जिज्ञासु वृत्ति इन संस्मरणों की विशेषता है और जानकारी साझा करने की ललक भी। विदेश में अक्सर वो बाहर की प्रगति के बरअक्स भारतीय संस्कृति की निरंतरता को याद करते हैं।

किन्नर देश में: राहुल सांकृत्यायन

महापंडित राहुल सांकृत्यायन हिंदी में 'घुमक्कड़-शास्त्र' के प्रणेता थे। वे जीवन-भर भ्रमणशील रहे।

ज्ञान के अर्जन में उन्होंने सुदूर अंचलों की यात्राएं कीं। उन पर अनेक किताबें लिखीं।

'किन्नर देश में' हिमाचल प्रदेश में तिब्बत सीमा पर सतलुज नदी की उपत्यका में बसे सुरम्य इलाके किन्नौर की यात्रा-कथा है।

यह यात्रा उन्होंने साल 1948 में की थी। मूल शब्द 'किन्नर' है, इसलिए राहुलजी सर्वत्र इसी नाम का प्रयोग करते हैं।

कभी बस और घोड़े के सहारे और कभी कई दफा पैदल भी की गई यात्रा का वर्णन करते हुए राहुलजी क्षेत्र के इतिहास, भूगोल, वनस्पति, लोक-संस्कृति आदि अनेक पहलुओं की जानकारी जुटाते हैं।

किताब का सबसे दिलचस्प पहलू वह है जहां वे अपने जैसे घुमक्कड़ों की खोज कर उनका संक्षिप्त जीवन-चरित भी लिखते हैं।

उन्हें एक ऐसा यात्री मिला जो पांच बार कैलाश-मानसरोवर हो आया था। उसने सैकड़ों यात्राएं कीं और डाकुओं ही नहीं, मौत से दो-चार हुआ और बच आया।

पुस्तक का अंतिम हिस्सा सूचनाओं से भरा है, जहां वो किन्नौर के अतीत, लोक-काव्य और उसका हिंदी अनुवाद, किन्नर भाषा का व्याकरण और शब्दावली समझाते हैं।

अरे यायावर रहेगा याद: सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'

हिंदी साहित्य में रचनात्मक यात्रा-वृत्तांत की लीक डालने वाली कृति अब कमोबेश क्लासिक का स्थान पा चुकी है।

अज्ञेय की एक कविता (दूर्वाचल) की पंक्ति इस यात्रा-वृत्तांत का नाम बनकर अपने आप में एक मुहावरा-सा बन चुकी है और 'यायावर' नाम लगभग 'अज्ञेय' का पर्याय।

दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान जापान के भारत पर हमले की आशंका में फैज अहमद फैज, मुश्ताक अली आदि की तरह अज्ञेय भी देश-रक्षा में मित्र (अलाइड) देशों की फौज में शामिल हो गए थे।

युद्ध खत्म होने पर लौट आए। फौजी जीवन से आम जीवन में वापसी तक अज्ञेय ने अनेक भारतीय स्थलों की जो यात्राएं कीं, वे इस किताब में लिपिबद्ध हैं।

पूर्वोत्तर के जिन कस्बों, जंगलों, माझुली जैसे द्वीप के बारे में उत्तर भारत का निवासी जहां आज भी बहुत नहीं जानता, अज्ञेय ने चालीस के दशक में उन्हें फौजी ट्रक हांकते हुए नापा।

राहुल सांकृत्यायन ने 'किन्नर देश में' जैसा मशहूर यात्रा संस्मरण लिखा था।

असम से बंगाल, उत्तर प्रदेश, दिल्ली, पंजाब, तक्षशिला (अब पाकिस्तान में), एबटाबाद (जहां हाल में ओसामा बिन लादेन को मारा गया था), हसन अब्दाल, नौशेरा, पेशावर और अंत में खैबर – यानी भारत की एक सीमा से दूसरी सीमा की यात्राएं, उसमें तरह-तरह के अनुभव, दृश्य, लोग और हादसे और कुल्लू-रोहतांग जोत की यात्रा भी इस कृति में है, जब लेखक ने मौत को करीब से देखा।

उस संस्मरण का नाम ही है, 'मौत की घाटी में'. अब रोहतांग न मौत की घाटी रहा, न यात्रा उतनी दुगर्म 'एलुरा' और 'कन्याकुमारी से नंदा देवी' वृत्तांत भी कृति में बहुत दिलचस्प हैं।

दक्षिण के बारे में भी उस जमाने में यह यात्रा-वृत्तांत हिंदी पाठक समाज के लिए जानकारी की परतें खोलने वाला साबित हुआ था।

ऋणजल धनजलः फणीश्वरनाथ रेणु

यात्राएं केवल तफरीह के लिए नहीं होती। 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा' जैसी जमीनी कृतियों के रचयिता रेणु ने दो संस्मरण लिखे, जो इस विधा को नई भंगिमा देते हैं।

दोनों में उनके अपने बिहार की जानी-पहचानी जगहों की यात्रा है, लेकिन नितांत भयावह दिनों की।

साल1966 में दक्षिणी बिहार में पड़े सूखे के वक्त उस क्षेत्र की यात्रा उन्होंने दिनमान-संपादक और कवि-कथाकार 'अज्ञेय' के साथ की। बाद में साल 1975 में पटना और आसपास के क्षेत्र में बाढ़ की लीला को उन्होंने करीब से देखा। दोनों जगह उनके साथ उनकी नजर विपरीत परिस्थितियों में भी मानवीय करुणा को चीन्हती है।

बाढ़ का इलाका हो या सूखा क्षेत्र, उनका वर्णन हर जगह संवेदनशील कथाकार का रहता है। गंभीर पर्यवेक्षण, जो उनकी चिर-परिचित ठिठोली को भी उन हालात में भूलने नहीं देता।

संस्मरणों में पीड़ित तो आते ही हैं फौजी, राहतकर्मी, पत्रकार, मित्र, पत्नी लतिकाजी की उपस्थिति उनको और जीवंत बनाती है। और तो और राहत सामग्री गिराता हेलिकॉप्टर भी जैसे कथा का एक चरित्र बनकर उपस्थित होता है।

आखिरी चट्टान तकः मोहन राकेश

गोवा से कन्याकुमारी तक की यह यात्रा कथाकार और नाटककार मोहन राकेश ने सन् 1952-53 में की थी, कोई तीन महीने में।

किताब उन्होंने 'रास्ते के दोस्तों' को समर्पित की, साथ में यह जोड़ते हुएः 'पश्चिमी समुद्र-तट के साथ-साथ एक यात्रा,

देश के दक्षिण और समुद्र क्षेत्र की मोहन राकेश की यह पहली यात्रा थी।

जैसा कि रेल का ब्योरा लिखने से पहले वे चार पन्नों में कुछ पूर्व-पीठिका-सी बनाते हुए कहते हैं, 'एक घने शहर (अमृतसर) की तंग गली में पैदा हुए व्यक्ति के लिए उस विस्तार के प्रति ऐसी आत्मीयता का अनुभव होने का आधार क्या हो सकता था?

केवल विपरीत का आकर्षण? नए संसार को जानने की यह ललक उन्हें मालाबार की लाल जमीन, घनी हरियाली और नारियल वृक्षों से लेकर कन्याकुमारी की चट्टान तक लिए जाती है।

बीच-बीच में अनेक दिलचस्प हमसफर चरित्रों से दो-चार करते हुए। इस यात्रा-वृत्तांत को हम एक कहानी की तरह पढ़ सकते हैं।

चीड़ों पर चांदनीः निर्मल वर्मा

हिंदी लेखकों को तब विदेश यात्राओं का बहुत सुयोग नहीं मिलता था। अज्ञेय के बाद निर्मल वर्मा इस मामले में बहुत भाग्यशाली रहे।

अज्ञेय ने जैसे विदेश यात्राओं के संस्मरण 'एक बूंद सहसा उछली' में लिखे, निर्मल वर्मा 'चीड़ों पर चाँदनी' के साथ इस विधा में सामने आए।

हालांकि इस पुस्तक में एक संस्मरण उनके जन्मस्थल शिमला पर भी है। पहले-पहल यह कृति साल 1962 में छपी थी। विदेश यात्रा निर्मल वर्मा के लिए

महज पर्यटकों की सैर नहीं रही। वे जर्मनी जाते हैं तो नाटककार ब्रेख्त उनके साथ चलते दिखाई देते हैं।

किताबों की दुकानों में यात्रा संस्मरण से जुड़ी पुस्तकों की मांग कहानी और उपन्यास पुस्तकों से अपेक्षाकृत कम होती है, लेकिन साहित्यिक विकास यात्रा में इनकी अन्यतम ऐतिहासिक भूमिका होती है। कोपनहेगन में दूसरे यूरोपीय देशों की मौजूदगी भी साथ रहती है। सबसे महत्त्वपूर्ण दो यात्रा-संस्मरण आइसलैंड के हैं। आइसलैंड की हिमनदियों (ग्लेशियर) और क्षेत्र की साहित्यिक संस्कृति का आंखों देखा वर्णन हिंदी में इससे पहले शायद ही देखने में आया हो।

इन संस्मरणों के कई साल बाद निर्मलजी ने 'सुलगती टहनी' (कुंभ यात्रा) और डायरी की शक्ल में अनेक दूसरे यात्रा-संस्मरण भी लिखे. पर 'चीड़ों पर चांदनी' इस विधा में उनकी अनूठी कृति के रूप में हमेशा पहचानी जाती रही है।

स्पीति में बारिशः कृष्णनाथ

कृष्णनाथ अर्थशास्त्र के शिक्षक रहे और बौद्ध धर्म के अध्येता। मगर उनकी यायावर-वृत्ति उन्हें बार-बार हिमालय ले जाती रही है।

बौद्ध धर्म का अन्वेषण ही नहीं, हिमालयी अंचल के लोक-जीवन को उन्होंने बहुत आत्मीय और सरस ढंग से अपने अनेक संस्मरणों में लिखा है।

साल 1974 की यात्रा को कवि कमलेश साल 1982 में यात्रा-त्रयी के रूप में प्रकाश में लाए थे। शृंखला में सबसे पहली कृति थी- 'स्पीति में बारिश'। फिर 'किन्नर धर्मलोक' और 'लद्दाख' में राग-विराग' छपी।

कुछ वर्ष बाद कुमाऊं क्षेत्र पर भी उनकी ऐसी ही तीन किताबों का सिलसिला देखने में आया। लाहौल-स्पीति, रोटांग (रोहतांग) जोत के पार हिमाचल प्रदेश का सीमांत क्षेत्र है। लोक-जीवन तो हर जगह अपना होता ही है, पर इस क्षेत्र के पहाड़ और घाटियां बाकी हिमालय से बहुत जुदा हैं।

कहते हैं, स्पीति में कभी बारिश नहीं होती। उस दुनिया में कृष्णनाथ बारिश ढूंढते हैं और पाते हैं, स्नेह की, ज्ञान की, परंपरा और संस्कृति की, मानवीय रिश्तों की बारिश।

कृष्णनाथ का गद्य अप्रतिम है। सरस और लयपूर्ण। छोटे-छोटे वाक्यों में वे अपने देखे को हमसे बांटते नहीं, हम पर अपने गद्य का जैसे जादू चलाते हैं। चंद पंक्तियां देखिए:

'विपाशा को देखता रहा। सुनता रहा। फिर जैसे सब देखना-सुनना सुन्न हो गया। भीतर-बाहर सिर्फ हिमवान, वेगवान, प्रवाह रह गया। न नाम, न रूप, न गंध, न स्पर्श, न रस, न शब्द. सिर्फ सुन्न. प्रवाह, अंदर-बाहर प्रवाह. यह विपाशा क्या अपने प्रवाह के लिए है? क्या इसीलिए गंगा, यमुना, सरस्वती, सोन, नर्मदा, वितस्ता, चंद्रभागा, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी की तरह विपाशा महानद है? पुण्यतमा है? क्या शीतल, नित्य गतिशील सिलसिले में ही ये पाश कटते हैं? विपाश होते हैं?'

यूरोप के स्केचः रामकुमार

रामकुमार की ख्याति एक चित्रकार के रूप में अंतरराष्ट्रीय है, लेकिन हिंदी में कथाकार के रूप में उनकी अपनी प्रतिष्ठा है। साल 1950-51 में वे पेरिस के आर्ट स्कूल में रहे. उस वक्त मौके-बेमौके वे यूरोप के देशों की सैर को निकलते रहे। 'नए-नए शहर, नई-नई भाषाएं, नए-नए लोग... और मैं अकेला निरुद्देश्य यात्री की भांति सुबह से शाम तक सड़कों, गलियों, कैफों और कला-संग्रहालयों के चक्कर लगाया करता।' साल 1955 में वे फिर यूरोप गए. दोनों प्रवासों के कोई बीस यात्रा-संस्मरण इस पुस्तक में संकलित हैं।

पेशे से चित्रकार राम कुमार ने 1950-51 में अपनी यूरोप यात्रा के संस्मरण इस किताब में लिखे हैं।

काहिरा की एक शाम, रोमा रोलां के घर में, फूचिक के देश में, टॉल्सटाय के घर में, दांते और माइकल एंजेलो का देश हर तरह से विशिष्ट यात्रा-वृत्तांत हैं।

कथाकार होने के बावजूद रामकुमार संस्मरण लिखते वक्त तटस्थ रहते हैं और जानकारी और अनुभवों को किसी निबंध की तरह हमसे बांटते हैं। किताब में उनके बनाए रेखाचित्र पाठक के लिए एक अतिरिक्त उपलब्धि साबित होते हैं।

बुद्ध का कमण्डल लद्दाखः कृष्णा सोबती

कृष्णा सोबती अपनी अनूठी कलम लिए एक रोज दिल्ली से लेह को चल दीं. यह किताब उस यात्रा की डायरी समझिए। इसका प्रकाशन इतना सुरुचिपूर्ण है कि हिंदी में शायद ही कोई और यात्रा-संस्मरण इस रूप में छपा होगा। हर पन्ने पर रंगीन तस्वीरें, रेखांकन, वाक्यांश कृष्णाजी के गद्य की शोभा बढ़ाते हैं।

वे अपनी पैनी और सहृदय नजर से लेह के बाजार, महल, दुकानें, लोग, गुरुद्वारे, पुस्तकालय, प्रशासन, प्रकृति सबको निहारती चलती हैं। सबसे ज्यादा उनकी नजर टिकती है बौद्ध-विहारों के भव्य और कलापूर्ण एकांत पर। वे फियांग, हैमिस, लामायूरू, आलची, थिकसे के गोम्पा देखती चलती हैं। जांसकर घाटी की परिक्रमा करती हैं और हमारे सम्मुख लद्दाख की संस्कृति, भाषा, लिपि, रीति-रिवाज, नदियों और दर्रों को हाथ की रेखाओं की तरह बड़ी आत्मीयता से परोसती चलती हैं। करगिल को हमने भारत-पाक संघर्ष से पहचाना है। कृष्णा सोबती हमारे सामने उस करगिल का चेहरा ही बदल देती हैं।

तीरे तीरे नर्मदा: अमृतलाल वेगड़

सैलानी की यात्रा का तेवर अलग होता है और यात्री का अलग। अमृतलाल वेगड़ नर्मदा की विकट मगर सरस यात्राओं के लिए पहचाने गए हैं। वे चित्रकार भी हैं और कला-शिक्षक भी. यात्रा के रेखांकनों-चित्रों से सुसज्जित उनकी यात्रा-त्रयी इस किताब के साथ पूर्णता पाती है: सौंदर्य की नदी नर्मदा, अमृतस्य नर्मदा, तीरे-तीरे नर्मदा।

यात्राओं का यह सिलसिला वेगड़जी ने पत्नी कांताजी के साथ विवाह की पचासवीं सालगिरह के मौके पर शुरू किया था। अंतराल में नर्मदा जैसे उन्हें फिर बुलाती रही और वे वृद्धावस्था में भी अपने सहयात्रियों के साथ निकल-निकल जाते रहे।

हम इन संस्मरणों में कदम-कदम पर नर्मदा के इर्द-गिर्द के लोकजीवन से दो-चार होते हैं। वेगड़जी के संस्मरणों में नदी नदी नहीं रहती, एक जीवंत शख्सियत बन जाती है, जो हजारों-हजार वर्षों से अपने प्रवाह में जीवन को रूपायित और आलोकित करती आई है।

वेगड़जी का विनय देखिए, फिर भी कहते क्या हैं, 'कोई वादक बजाने से पहले देर तक अपने साज का सुर मिलाता है, उसी प्रकार इस जनम में तो हम नर्मदा परिक्रमा का सुर ही मिलाते रहे। परिक्रमा तो अगले जनम से करेंगे।'

अन्य पठनीय यात्रा-संस्मरण: राह बीती: यशपाल- सफरनामा पाकिस्तान: देवेंद्र सत्यार्थी, यात्रा-चक्र- धर्मवीर भारतीय, अपोलो का रथ: श्रीकांत वर्मा, सफरी झोले में: अजित कुमार, कश्मीर से कच्छ तक: मनोहरश्याम जोशी, एक लंबी छांह: रमेशचंद्र शाह, रंगों की गंध: गोविंद मिश्र, नए चीन में दस दिन: गिरधर राठी, यूरोप में अंतर्यात्राएं: कर्ण सिंह चौहान, अफगानिस्तान: बुजकशी का

मैदानः नासिरा शर्मा, सम पर सूर्यास्तः प्रयाग शुक्ल, एक बार आयोवाः मंगलेश डबराल, अवाकः गगन गिल, चलते तो अच्छा थाः असगर वजाहत, नीले बर्फीले स्वप्नलोक मेंः शेखर पाठक, कहानियां सुनाती यात्राएंः कुसुम खेमानी, वह भी कोई देश है महाराजः अनिल यादव, दर दर गंगेः अभय मिश्र, पंकज रामेंदु

संस्मरण

स्मृति के आधार पर किसी विषय या व्यक्ति के संबंध में लिखित किसी लेख या ग्रंथ को संस्मरण कहते हैं।संस्मरण लेखक अतीत की अनेक स्मृतियों में से कुछ रमणीय अनुभूतियों को अपनी कल्पना भावना या व्यक्तित्त्व की विशेषताओं से अनुरंजित कर (युक्त कर) प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त करता है, उसी का वर्णन करता है, उसके वर्णन में उसकी अपनी अनुभूतियों और सम्वेदनाओं का समावेश रहता है।

संस्मरण के लेखक के लिए यह नितांत आवश्यक है कि लेखक ने उस व्यक्ति या वस्तु का साक्षात्कार किया हो जिसका वह संस्मरण लिख रहा है। वह अपने समय के इतिहास को लिखना चाह रहा है परंतु इतिहासकार की भांति वह विवरण प्रस्तुत नहीं करता। इतिहासकार के वस्तुपरक दृष्टिकोण से वह बिल्कुल अलग है। संस्मरण में जीवन के कुछ महत्वपूर्ण क्षणों या घटनाओं की स्मृति पर आधारित रोचक अभिव्यक्ति होती है संस्मरण यथार्थ जीवन से संबंधित संक्षिप्त रोचक चित्रात्मक भावुकतापूर्ण लेखक के व्यक्तित्त्व की आभा से पूर्ण प्रभाव पूर्ण शैली में लिखित घटना संस्मरण कहलाती है।

संस्मरण में मुख्यतः बीती हुई बातें याद की जाती है तथा उसमे भाषात्मक्ता अधिक रहती है इसमें लेखक ' रेखाचित्रकार ' की भांति तत्त्व निर्लिप्त नहीं रहता। यदि संस्मरण लेखक अपने विषय में लिखता है तो वह रचनात्मक आत्मकथा के अधिक निकट होती है, यदि वह अन्य व्यक्तियों के संबंध में लिखता है तो वह जीवनी के निकट होती है। इसलिए संस्मरण के लेखक को अपने लेख के प्रति सचेत रहना आवश्यक है।

हिंदी साहित्य के क्षेत्र में संस्मरण आधुनिक काल की विधा है। हिंदी संस्मरण को विकास की दिशा में बढ़ाने वाले प्रमुख साहित्यकारों में उल्लेखनीय नाम है–

= **रामवृक्ष बेनीपुरी**– "माटी की मूरतें ", "मील के पत्थर"।

= **देवेंद्र सत्यार्थी जी**–"क्या गोरी क्या सांवरी " तथा " रेखाएं बोल उठी।"

= **कन्हैया लाल मिश्र प्रभाकर**–" भूले हुए चेहरे ", तथा " माटी हो गई सोना।"

अगर आपको नीचे दिए गए सभी संस्मरण सही तरह से पढ़ने है तो आपको कंप्यूटर या लैपटॉप पर पढ़ने होंगे। और यदि आप मोबाइल में पढ़ना चाहते हैं तो (अपने ब्राउजर की सेटिंग में जाकर रिक्वेस्ट डेस्कटॉप साइट पर क्लिक करें)

वर्ष संस्मरण का शीर्षक संस्मरणकार

1905 अनुमोदन का अन्त, अतीत स्मृति-महावीरप्रसाद द्विवेदी

1907 इंग्लैंड के देहात में महाराज बनारस का कुआं-काशीप्रसाद जायसवाल

1907 सभा की सभ्यता-महावीरप्रसाद द्विवेदी

1908 लन्दन का फाग या कुहरा-प्यारेलाल मिश्र

1909 मेरी नई दुनिया सम्बन्धिनी रामकहानी-भोलदत्त पांडेय

1911 अमेरिका में आने वाले विद्यार्थियों की सूचना-जगन्नाथ खन्ना

1913 मेरी छुट्टियों का प्रथम सप्ताह-जगदीश बिहारी सेठ

1913 वाशिंगटन महाविद्यालय का संस्थापन दिनोत्सव-पांडुरंग खानखोजे

1918 इधर-उधर की बातें-रामकुमार खेमका

1921 कुछ संस्मरण (सुधा 1921 में प्रकाशित)-वृन्दालाल वर्मा

1921 मेरे प्राथमिक जीवन की स्मृतियां (सुधा 1921 में प्रकाशित)-इलाचन्द्र जोशी

1932 मदन मोहन के सम्बन्ध की कुछ पुरानी स्मृतियां-शिवराम पांडेय

1937 क्रान्तियुग के संस्मरण-मन्मथनाथ गुप्त

1937 बोलती प्रतिमा-श्रीराम शर्मा

1937 साहित्यिकों के संस्मरण (हंस के प्रेमचन्द स्मृति अंक 1937 सं. पराड़कर)-ज्योतिलाल भार्गव

1938 झलक-शिवनारायण टंडन

1940 टूटा तारा (स्मरण: मौलवी साहब, देवी बाबा)-राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह

1946 पंच चिह्न-शांतिप्रसाद द्विवेदी

1946 वे दिन वे लोग–शिवपूजन सहाय
1947 पुरानी स्मृतियां और नए स्केच–प्रकाशचन्द्र गुप्त
1947 मिट्टी के पुतले–प्रकाशचन्द्र गुप्त
1947 स्मृति की रेखाएं–महादेवी वर्मा
1948 सन् बयालीस के संस्मरण–श्रीराम शर्मा
1949 एलबम–सत्यजीवन वर्मा 'भारतीय'
1949 ज्यादा अपनी, कम पराई–उपेन्द्रनाथ 'अश्क'
1952 संस्मरण–बनारसीदास चतुर्वेदी
1954 गांधी कुछ स्मृतियां–जैनेन्द्र
1954 ये और वे–जैनेन्द्र
1955 मुझे याद है–रामवृक्ष बेनीपुरी
1955 बचपन की स्मृतियां–राहुल सांकृत्यायन
1955 मैं भूल नहीं सकता–कैलाशनाथ काटजू
1956 मील के पत्थर–रामवृक्ष बेनीपुरी
1956 जिनका मैं कृतज्ञ, मेरे असहयोग के साथी–राहुल सांकृत्यायन
1956 मंटो मेरा दुश्मन या मेरा दोस्त–उपेन्द्रनाथ अश्क
1957 जंजीरें और दीवारें–रामवृक्ष बेनीपुरी
1957 वे जीते कैसे हैं–श्रीराम शर्मा
1959 कुछ मैं कुछ वे–रामवृक्ष बेनीपुरी
1959 ज्यादा अपनी कम परायी–अश्क
1959 मैं इनका ऋणी हूं–इन्द्र विद्यावाचस्पति
1959 स्मृति–कण–सेठ गोविन्ददास
1960 प्रसाद और उनके समकालीन–विनोद शंकर व्यास
1962 अतीत की परछाइयां–अमृता प्रीतम
1962 कुछ स्मृतियां और स्फुट विचार–डॉ. सम्पूर्णानन्द
1962 जाने–अनजाने–विष्णु प्रभाकर
1962 नए–पुराने झरोखे–हरिवंशराय 'बच्चन'
1962 समय के पांव–माखनलाल चतुर्वेदी
1963 जैसा हमने देखा–क्षेमचन्द्र 'सुमन'
1963 दस तस्वीरें–जगदीशचन्द्र माथुर
1963 साठ वर्ष: एक रेखांकन–सुमित्रानन्दन पन्त

1965 कुछ शब्द रू कुछ रेखाएं-विष्णु प्रभाकर
1965 जवाहर भाई रू उनकी आत्मीयता और सहृदयता रायकृष्ण दास
1965 मेरे हृदय-देव हरिभाऊ उपाध्याय
1965 लोकदेव नेहरू-रामधारीसिंह 'दिनकर'
1965 वे दिन वे लोग-शिवपूजन सहाय
1966 चेहरे जाने-पहचाने-सेठ गोविन्ददास
1966 स्मृतियां और कृतियां-शान्तिप्रय द्विवेदी
1967 चेतना के बिम्ब-डॉ. नगेन्द्र
1968 गांधी संस्मरण और विचार-काका साहेब कालेलकर
1968 घेरे के भीतर और बाहर-डॉ. हरगुलाल
1968 बच्चन निकट से-अजित कुमार एवं ओंकारनाथ श्रीवास्तव
1968 स्मृति के वातायन-जानकीवल्लभ शास्त्राी
1969 चाँद-पद्मिनी मेनन
1969 संस्मरण और श्रद्धांजलियां-रामधारी सिंह दिनकर
1970 व्यक्तित्त्व की झांकियां-लक्ष्मीनारायण सुधांशु
1971 जिन्होंने जीना जाना-जगदीशचन्द्र माथुर
1971 स्मारिका-महादेवी वर्मा
1972 अन्तिम अध्याय-पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी
1973 जिनके साथ जिया-अमृतलाल नागर
1974 स्मृति की त्रिवेणिका-लक्ष्मीशंकर व्यास
1975 मेरा हमदम मेरा दोस्त-कमलेश्वर
1975 रेखाएं और संस्मरण-क्षेमचन्द्र सुमन
1975 चन्द सतरें और अनीता-राकेश
1976 बीती यादें-परिपूर्णानन्द
1976 मैंने स्मृति के दीप जलाए-रामनाथ सुमन
1977 मेरे क्रान्तिकारी साथी-भगत सिंह
1977 हम हशमत-कृष्णा सोबती
1978 कुछ ख्वाबों में कुछ खयालों में-शंकर दयाल सिंह
1978 संस्मरण को पाथेय बनने दो-विष्णुकान्त शास्त्री
1979 अतीत के गर्त से-भगवतीचरण वर्मा
1979 पुनः सुलोचना-रांगेय राघव

1979 श्रद्धांजलि संस्मरण–मैथिलीशरण गुप्त
1980 यादों के झरोखे–कुंवर सुरेश सिंह
1980 लीक–अलीक–भारतभूषण अग्रवाल
1981 औरों के बहाने–राजेन्द्र यादव
1981 यादों की तीर्थयात्रा–विष्णु प्रभाकर
1981 जिनके साथ जिया–अमृतलाल नागर
1981 सृजन का सुख–दु:ख–प्रतिभा अग्रवाल
1982 संस्मरणों के सुमन–रामकुमार वर्मा
1982 स्मृति–लेखा–अज्ञेय
1982 आदमी से आदमी तक भीमसेन त्यागी
1983 निराला जीवन और संघर्ष के मूर्तिमान रूप डॉ. ये. पे. चेलीशेव
1983 मेरे अग्रज रू मेरे मीत विष्णु प्रभाकर
1983 युगपुरुष रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'
1984 बन तुलसी की गन्ध रेणु
1984 दीवान खघना पद्मा सचदेव
1986 रस गगन गुफा में भगवतीशरण उपाध्याय
1988 हजारीप्रसाद द्विवेदी रू कुछ संस्मरण कमल किशोर गोयनका
1989 भारत भूषण अग्रवाल रू कुछ यादें, कुछ चर्चाएं बिन्दु अग्रवाल
1990 सृजन के सेतु विष्णु प्रभाकर
1992 जिनकी याद हमेशा रहेगी अमृत राय
1992 निकट मन में अजित कुमार
1992 याद हो कि न याद हो काशीनाथ सिंह
1992 सुधियां उस चन्दन के वन की विष्णुकान्त शास्त्री
1994 लाहौर से लखनऊ तक प्रकाशवती पाल
1994 सप्तवर्णी गिरिराज किशोर
1995 अग्निजीवी प्रफुल्लचन्द्र ओझा
1995 मितवा घर पदमा सचदेव
1995 लौट आओ धार दूधनाथ सिंह
1995 स्मृतियों के छंद रामदरश मिश्र
1996 अभिन्न विष्णुचन्द्र शर्मा
1996 सृजन के सहयात्री रवीन्द्र कालिया

1998 यादें और बातें बिन्दु अग्रवाल
1998 हम हशमत भाग-2, कृष्णा सोबती
2000 अमराई पदमा सचदेव
2000 नेपथ्य नायक लक्ष्मीचन्द्र जैन मोहनकिशोर दीवान
2000 याद आते हैं रमानाथ अवस्थी
2000 यादों के काफिले देवेन्द्र सत्यार्थी
2000 वे देवता नहीं हैं राजेन्द्र यादव
2001 अंतरंग संस्मरणों में प्रसाद पुरुषोत्तमदास मोदी
2001 एक नाव के यात्री विश्वनाथप्रसाद तिवारी
2001 प्रदक्षिणा अपने समय की नरेश मेहता
2001 अपने-अपने रास्ते रामदरश मिश्र
2002 काशी का अस्सी काशीनाथ सिंह
2002 नेह के नाते अनेक कृष्णविहारी मिश्र
2002 लखनऊ मेरा लखनऊ मनोहर श्याम जोशी
2002 स्मृतियों का शुक्ल पक्ष डॉ. रामकमल राय
2002 चिडिघ्या रैन बसेरा विद्यानिवास मिश्र
2002 लौट कर आना नहीं होगा कान्तिकुमार जैन
2003 आंगन के वंदनवार विवेकी राय
2003 रघुवीर सहाय रू रचनाओं के बहाने एक संस्मरण मनोहर श्याम जोशी
2004 तुम्हारा परसाई कान्तिकुमार जैन
2004 पर साथ-साथ चली रही याद विष्णुकान्त शास्त्री
2004 आछे दिन पाछे गए काशीनाथ सिंह
2004 नंगा तलाई का गांव डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी
2004 लाई हयात आए लक्ष्मीधर मालवीय
2005 मेरे सुहृद रू मेरे श्रद्धेय विवेकी राय
2005 सुमिरन को बहानो केशवचन्द्र वर्मा
2006 घर का जोगी जोगड़ा काशीनाथ सिंह
2006 जो कहूंगा सच कहूंगा डॉ. कान्ति कुमार जैन
2006 ये जो आईना है मधुरेश
2007 अब तो बात फैल गई कान्तिकुमार जैन

2007 एक दुनिया अपनी डॉ. रामदरश मिश्र
2009 कविवर बच्चन के साथ अजीत कुमार
2009 कालातीत मुद्राराक्षस
2009 कितने शहरों में कितनी बार ममता कालिया
2009 कुछ यादें रू कुछ बातें अमरकान्त
2009 दिल्ली शहर दर शहर डॉ. निर्मला जैन
2009 मेरे भोजपत्र चन्द्रकान्ता
2009 हाशिए की इबारतें चन्द्रकान्ता
2010 अ से लेकर ह तक, यानी अज्ञेय से लेकर हृदयेश तक डॉ. वीरेन्द्र सक्सेना
2010 अंधेरे में जुगनू अजीत कुमार
2010 जे. एन. यू. में नामवर सिंह सं. सुमन केशरी
2010 बैकुंठ में बचपन कान्तिकुमार जैन
2011 अतीत राग नन्द चतुर्वेदी
2011 कल परसों बरसों ममता कालिया
2011 स्मृति में रहेंगे वे शेखर जोशी
2012 हम हशमत भाग-3 कृष्णा सोबती
2012 अपने-अपने अज्ञेय ख्दो खंड, ओम थानवी
2012 आलोचक का आकाश मधुरेश
2012 गंगा स्नान करने चलोगे डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी
2012 माफ करना यार बलराम
2012 यादों का सफर प्रकाश मनु
2012 स्मृतियों के गलियारे से नरेन्द्र कोहली
2013 मेरी यादों का पहाड़ देवेंद्र मेवाड़ी

संस्मरण के अंग अथवा तत्त्व

अतीत की स्मृति

संस्मरण अतीत पर आधारित होता है इसमें लेखक अपने यात्रा, जीवन की घटना, रोचक पल, आदि जितनी भी दुनिया में रोचक यादें होती है, उसको सहेज कर उन घटनाओं को लिखित रूप में व्यक्त करता है। जिसे पढ़कर दर्शक को

ऐसा महसूस होता कि वह उस अतीत की घटना से रूबरू हो रहा है उसको आत्मसात कर रहा है। किंतु संस्मरण को रेखाचित्र, जीवनी, रिपोर्ताज, यात्रा आदि से अलग महत्व दिया गया है।

आत्मीय एवं श्रद्धापूर्ण अन्तरंग सम्बन्ध

जब तक लेखक आत्मीयता से किसी स्मृति अतीत को याद कर अंकित नहीं करेगा तब तक संस्मरण प्रभावशाली नहीं हो सकता। इसके साथ ही आवश्यक है कि किसी श्रद्धेय पुरुष या चरित्र के प्रति श्रद्धा भाव, जो मानव-मात्र को प्रेरणा दे सके।किसी अद्‌भुत क्षण को याद कर भी उस पल को भी लिख सकता है।

प्रामाणिकता

संस्मरण विधा में कल्पना का कोई स्थान नहीं होता, क्योंकि कल्पना का समावेश होते ही संस्मरण की विधा नष्ट हो जाती है। इस विधा में कल्पना के लिए कोई खास जगह नहीं होती। उन्हीं घटनाओं का वर्णन होता है, जो जीवन में घट चुकी हैं और प्रामाणिक हैं।

वैयक्तिकता

संस्मरण की महत्वपूर्ण विशेषता वैयक्तिकता मानी जाती है। इसका सहारा लिए बिना संस्मरण नहीं लिखा जा सकता। संस्मरण में लेखक के अपने जीवन में किसी न भुला सकने वाली घटना का वर्णन होता है। वह घटना को हूबहू पाठक के समक्ष रखता है, जिसे पढ़कर पाठक को उस घटना को करने का मौका मिलता है।

क्या आप जानते हैं?

संस्मरण बहुत ही लचकदार विधा है। इसके तत्त्व और गुण अन्य अनेक विधाओं में मिल जाते हैं। बहुत समय तक रेखाचित्र, जीवनी, रिपोर्ताज आदि विधाओं और संस्मरण को एक समझा जाता रहा। संस्मरण और रेखाचित्र एक-दूसरे के साथ कहीं-कहीं इस तरह जुड़े कि एक-दूसरे के पर्याय मान लिए गए। महादेवी वर्मा की 'स्मृति की रेखाएं' इसका ज्वलंत उदहारण है। 'स्मृति'

शब्द जहाँ उस कृति को संस्मरण की ओर ले जा रहा है वहीं 'रेखाएं' रेखाचित्र विधा की ओर।

जीवन के खंड विशेष का चित्रण

जीवनी में सम्पूर्ण जीवन का चित्रण न करके कुछ घटनाओं का विवेचन होता है। लेखक अपने जीवन की किसी घटना विशेष या संपर्क में आए हुए व्यक्ति विशेष के चरित्र के महत्वपूर्ण पक्ष की झांकी पेश कर जीवन के खंडरूप या किसी एक पक्ष का ही चित्रण करता है।

चित्रात्मकता

संस्मरण की एक विशेषता होती है की वह जितनी चित्रात्मक होगी संस्मरण उतना ही सफल होगा,क्योकि चित्र मानव मस्तिष्क पर अधिक प्रभाव डालती है वह मस्तिष्क में अमित छाप छोड़ती है। लेखक चुन-चुनकर शब्दों का प्रयोग कर आलंबन का चित्र प्रस्तुत करता है। वह इस प्रकार विवेचन करता है कि चित्र सहज ही बनने लगते हैं।

कथात्मकता

संस्मरण कथात्मक साहित्य विधा है। यह कथा काल्पनिक न होकर सत्य पर आधारित होती है। कथा का ताना-बाना जीवन की घटनाओं से बुना जाता है और पाठक के साथ सहज तादात्म्य हो जाता है।

तटस्थता

तटस्थता भी संस्मरण की अनिवार्य शर्त है। लेखक से यह अपेक्षा की जाती है कि वह स्वयं को महिमामंडित करने की प्रवृति से दूर रहकर जीवन में घटित सत्य को सामने लाए, भले वह सत्य स्वयं के लिए कितना ही कटु क्यों न हों?

हिंदी के संस्मरणकारों में पद्म सिंह शर्मा को इस विधा का पहला लेखक माना जाता है। आचार्य शिवपूजन सहाय, रामवृक्ष बेनीपुरी, कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर', इस क्षेत्र के बड़े नाम हैं। महादेवी वर्मा हिंदी संस्मरण-साहित्य में मील का पत्थर हैं। इनके प्रारंभिक संस्मरण 'कमला' पत्रिका में प्रकाशित हुए। 'पथ के साथी', 'मेरा परिवार', इनके संस्मरण संकलन हैं। हालाँकि आत्मीयता की

गहनता और चित्रात्मक शैली ने भ्रम पैदा किए हैं और इन्हें संस्मरणात्मक रेखाचित्र कहा जाना चाहिए। किन्तु निश्चित तौर पर महादेवी अपने आप में संस्मरण का स्वर्णिम इतिहास हैं। हिन्दी की साहित्यिक पत्रिकाओं ने बुजुर्ग लेखकों से संस्मरण लिखवाने में बहुत तत्परता दिखाई है।

वस्तुतः पत्रकार, समालोचक, साहित्यकारों के सामानांतर इस विधा को खुशबू देने वालों में अनेक राजनीतिज्ञ, क्रांतिकारी, समाज-सुधारक भी हैं जिनके मार्मिक संस्मरणों का अपना इतिहास है। इनमें भारत के प्रथम राष्ट्रपति स्वर्गीय राजेंद्र प्रसाद, प्रथम प्रधानमंत्री नेहरु, राष्ट्रपिता महात्मा गांधी जैसी हस्तियाँ शामिल हैं। इनका संस्मरण साहित्य अपने आप में प्रामाणिक इतिहास और समय का साक्ष्य है। इस प्रकार संस्मरण में व्यक्ति विशेष से सम्बंधित विवरण के आधार पर उसकी चारित्रिक रेखाओं को जोड़ कर उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्त्व के प्रभाव को ग्रहण करने का प्रयास होता है। इसका क्षेत्र बड़ा व्यापक है। यह किसी व्यक्ति का भी हो सकता है और वस्तु का भी। उसमें मात्र वर्णन या विवरण नहीं होता अपितु वर्ण्य विषय के साथ लेख के आत्मीय या निजी सम्बन्ध से उद्‌भूत प्रतिक्रियाओं का आकलन होता है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि संस्मरण बहुत ही लचकदार विधा है। इसके तत्त्व और गुण अन्य अनेक विधाओं में मिल जाते हैं। बहुत समय तक रेखाचित्र, जीवनी, रिपोर्ताज आदि विधाओं और संस्मरण को एक समझा जाता रहा। इस तरह कई विधाओं के साथ संस्मरण का घालमेल होता प्रतीत होता है। किन्तु हिंदी साहित्य के विशाल फलक पर संस्मरण विधा ने अपनी छोटी-सी विकास यात्रा में पर्याप्त प्रगति की है। साहित्य-रसिकों का रुझान धीरे-धीरे इस विधा की ओर बढ़ रहा है। अतः संस्मरण का भविष्य आशा और आत्मीयता के मध्य गोते खाता एक निश्चित दिशा की ओर बढ़ रहा है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि अत्याधुनिक होने पर भी संस्मरण विधा आज हिंदी साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान की अधिकारिणी बन गई है यह रेखाचित्र से भी लोकप्रियता प्राप्त कर चुकी है भविष्य में इसके विकास की अच्छी संभावनाओं से इनकार नहीं किया जा सकता।

3

महावीर प्रसाद द्विवेदी

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी हिन्दी के महान साहित्यकार, पत्रकार एवं युगप्रवर्तक थे। उन्होने हिंदी साहित्य की अविस्मरणीय सेवा की और अपने युग की साहित्यिक और सांस्कृतिक चेतना को दिशा और दृष्टि प्रदान की। उनके इस अतुलनीय योगदान के कारण आधुनिक हिंदी साहित्य का दूसरा युग 'द्विवेदी युग' (1900–1920) के नाम से जाना जाता है। उन्होने सत्रह वर्ष तक हिन्दी की प्रसिद्ध पत्रिका सरस्वती का सम्पादन किया। हिन्दी नवजागरण में उनकी महान भूमिका रही। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन को गति व दिशा देने में भी उनका उल्लेखनीय योगदान रहा।

जीवन परिचय

महावीर प्रसाद द्विवेदी का जन्म उत्तर प्रदेश के रायबरेली जिले के दौलतपुर गाँव में 15 मई 1864 को हुआ था। इनके पिता का नाम पं. रामसहाय दुबे था। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। धनाभाव के कारण इनकी शिक्षा का क्रम अधिक समय तक न चल सका। इन्हें जी. आ ई. पी. रेलवे में नौकरी मिल गई। 25 वर्ष की आयु में रेल विभाग अजमेर में 1 वर्ष का प्रवास किया। नौकरी छोड़कर पिता के पास मुंबई प्रस्थान एवं टेलीग्राफ का काम सीखकर इंडियन मिडलैंड रेलवे में तार बाबू के रूप में नियुक्ति। अपने उच्चाधिकारी से न पटने और स्वाभिमानी स्वभाव के कारण 1904 में झाँसी में रेल विभाग की 200 रुपये मासिक वेतन की नौकरी से त्यागपत्र दे दिया।

नौकरी के साथ-साथ द्विवेदी अध्ययन में भी जुटे रहे और हिंदी के अतिरिक्त मराठी, गुजराती, संस्कृत आदि का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया।

सन् 1903 में द्विवेदी जी ने सरस्वती मासिक पत्रिका के संपादन का कार्यभार सँभाला और उसे सत्रह वर्ष तक कुशलतापूर्वक निभाया। 1904 में नौकरी से त्यागपत्र देने के पश्चात स्थायी रूप से 'सरस्वती' के संपादन कार्य में लग गये। 200 रुपये मासिक की नौकरी को त्यागकर मात्र 20 रुपये प्रतिमास पर सरस्वती के सम्पादक के रूप में कार्य करना उनके त्याग का परिचायक है। संपादन-कार्य से अवकाश प्राप्त कर द्विवेदी जी अपने गाँव चले आए। अत्यधिक रुग्ण होने से 21 दिसम्बर 1938 को रायबरेली में इनका स्वर्गवास हो गया।

प्रकाशित कृतियाँ

महावीर प्रसाद द्विवेदी हिन्दी के पहले लेखक थे, जिन्होंने केवल अपनी जातीय परंपरा का गहन अध्ययन ही नहीं किया था, बल्कि उसे आलोचकीय दृष्टि से भी देखा था। उन्होने अनेक विधाओं में रचना की। कविता, कहानी, आलोचना, पुस्तक समीक्षा, अनुवाद, जीवनी आदि विधाओं के साथ उन्होंने अर्थशास्त्र, विज्ञान, इतिहास आदि अन्य अनुशासनों में न सिर्फ विपुल मात्रा में लिखा, बल्कि अन्य लेखकों को भी इस दिशा में लेखन के लिए प्रेरित किया। द्विवेदी जी केवल कविता, कहानी, आलोचना आदि को ही साहित्य मानने के विरुद्ध थे। वे अर्थशास्त्र, इतिहास, पुरातत्त्व, समाजशास्त्र आदि विषयों को भी साहित्य के ही दायरे में रखते थे। वस्तुतः स्वाधीनता, स्वदेशी और स्वावलंबन को गति देने वाले ज्ञान-विज्ञान के तमाम आधारों को वे आंदोलित करना चाहते थे। इस कार्य के लिये उन्होंने सिर्फ उपदेश नहीं दिया, बल्कि मनसा, वाचा, कर्मणा स्वयं लिखकर दिखाया।

उन्होंने वेदों से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक के संस्कृत-साहित्य की निरंतर प्रवहमान धारा का अवगाहन किया था एवं उपयोगिता तथा कलात्मक योगदान के प्रति एक वैज्ञानिक दृष्टि अपनायी थी। उन्होंने श्रीहर्ष के संस्कृत महाकाव्य नैषधीयचरितम् पर अपनी पहली आलोचना पुस्तक 'नैषधचरित चर्चा' नाम से लिखी (1899), जो संस्कृत-साहित्य पर हिन्दी में पहली आलोचना-पुस्तक भी है। फिर उन्होंने लगातार संस्कृत-साहित्य का अन्वेषण, विवेचन और मूल्यांकन किया। उन्होंने संस्कृत के कुछ महाकाव्यों के हिन्दी में औपन्यासिक

रूपांतर भी किये, जिनमें कालिदास कृत रघुवंश, कुमारसंभव, मेघदूत, किरातार्जुनीयप्रमुख हैं।

संस्कृत, ब्रजभाषा और खड़ी बोली में स्फुट काव्य-रचना से साहित्य-साधना का आरंभ करने वाले महावीर प्रसाद द्विवेदी ने संस्कृत और अंग्रेजी से क्रमशः ब्रजभाषा और हिन्दी में अनुवाद-कार्य के अलावा प्रभूत समालोचनात्मक लेखन किया। उनकी मौलिक पुस्तकों में नाट्यशास्त्र(1904 ई.), विक्रमांकदेव चरितचर्या(1907 ई.), हिन्दी भाषा की उत्पत्ति(1907 ई.) और संपत्तिशास्त्र(1907 ई.) प्रमुख हैं तथा अनूदित पुस्तकों में शिक्षा (हर्बर्ट स्पेंसर के 'एजुकेशन' का अनुवाद, 1906 ई.) और स्वाधीनता (जान, स्टुअर्ट मिल के 'ऑन लिबर्टी' का अनुवाद, 1907 ई.)।

द्विवेदी जी ने विस्तृत रूप में साहित्य रचना की। इनके छोटे-बड़े ग्रंथों की संख्या कुल मिलाकर 81 है। पद्य के मौलिक-ग्रंथों में काव्य-मंजूषा, कविता कलाप, देवी-स्तुति, शतक आदि प्रमुख है। गंगालहरी, ऋतु तरंगिणी, कुमार संभव सार आदि इनके अनूदित पद्य-ग्रंथ हैं।

गद्य के मौलिक ग्रंथों में तरुणोपदेश, नैषध चरित्र चर्चा, हिंदी कालिदास की समालोचना, नाटय शास्त्र, हिंदी भाषा की उत्पत्ति, कालीदास की निरंकुशता आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अनुवादों में वेकन विचार, रत्नावली, हिंदी महाभारत, वेणी संहार आदि प्रमुख हैं।

मौलिक पद्य रचनाएँ

देवी स्तुति-शतक (1892 ई.)
कान्यकुब्जावलीव्रतम (1898 ई.)
समाचार पत्र सम्पादन स्तवः (1898 ई.)
नागरी (1900 ई.)
कान्यकुब्ज-अबला-विलाप (1907 ई.)
काव्य मंजूषा (1903 ई.)
सुमन (1923 ई.)
द्विवेदी काव्य-माला (1940 ई.)
कविता कलाप (1909 ई.)
पद्य (अनूदित)

विनय विनोद (1889 ई.)- भर्तृहरि के 'वैराग्यशतक' का दोहों में अनुवाद

विहार वाटिका (1890 ई.)- गीत गोविन्द का भावानुवाद

स्नेह माला (1890 ई.)- भर्तृहरि के 'शृंगार शतक' का दोहों में अनुवाद

श्री महिम्न स्त्रोत (1891 ई.)- संस्कृत के 'महिम्न स्त्रोत' का संस्कृत वृत्तों में अनुवाद

गंगा लहरी (1891 ई.)- पण्डितराज जगन्नाथ की 'गंगालहरी' का सवैयों में अनुवाद

ऋतुतरंगिणी (1891 ई.)- कालिदास के 'ऋतुसंहार' का छायानुवाद

सोहागरात (अप्रकाशित)- बाइरन के 'ब्राइडल नाइट' का छायानुवाद

कुमारसम्भवसार (1902 ई.)- कालिदास के 'कुमारसम्भवम्' के प्रथम पाँच सर्गों का सारांश

मौलिक गद्य रचनाएँ

नैषध चरित्र चर्चा (1899 ई.)

तरुणोपदेश (अप्रकाशित)

हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना (1901 ई.)

वैज्ञानिक कोश (1906 ई.),

नाट्यशास्त्र (1912 ई.)

विक्रमांकदेवचरितचर्चा (1907 ई.)

हिन्दी भाषा की उत्पत्ति (1907 ई.)

सम्पत्ति-शास्त्र (1907 ई.)

कौटिल्य कुठार (1907 ई.)

कालिदास की निरकुंशता (1912 ई.)

वनिता-विलाप (1918 ई.)

औद्योगिकी (1920 ई.)

रसज्ञ रंजन (1920 ई.)

कालिदास और उनकी कविता (1920 ई.)

सुकवि संकीर्तन (1924 ई.)

अतीत स्मृति (1924 ई.)

साहित्य सन्दर्भ (1928 ई.)

अदभुत आलाप (1924 ई.)

महिलामोद (1925 ई.)
आध्यात्मिकी (1928 ई.)
वैचित्र्य चित्रण (1926 ई.)
साहित्यालाप (1926 ई.)
विज्ञ विनोद (1926 ई.)
कोविद कीर्तन (1928 ई.)
विदेशी विद्वान (1928 ई.)
प्राचीन चिह्न (1929 ई.)
चरित चर्या (1930 ई.)
पुरावृत्त (1933 ई.)
दृश्य दर्शन (1928 ई.)
आलोचनांजलि (1928 ई.)
चरित्र चित्रण (1929 ई.)
पुरातत्त्व प्रसंग (1929 ई.)
साहित्य सीकर (1930 ई.)
विज्ञान वार्ता (1930 ई.)
वाग्विलास (1930 ई.)
संकलन (1931 ई.)
विचार-विमर्श (1931 ई.)
गद्य (अनूदित)

भामिनी-विलास (1891 ई.)- पण्डितराज जगन्नाथ के 'भामिनी विलास' का अनुवाद

अमृत लहरी (1896 ई.)- पण्डितराज जगन्नाथ के 'यमुना स्त्रोत' का भावानुवाद

बेकन-विचार-रत्नावली (1901 ई.)- बेकन के प्रसिद्ध निबन्धों का अनुवाद

शिक्षा (1906 ई.)- हर्बर्ट स्पेंसर के 'एजुकेशन' का अनुवाद

स्वाधीनता (1907 ई.)- जॉन स्टुअर्ट मिल के 'ऑन लिबर्टी' का अनुवाद

जल चिकित्सा (1907 ई.)- जर्मन लेखक लुई कोने की जर्मन पुस्तक के अंग्रेजी अनुवाद का अनुवाद

हिन्दी महाभारत (1908 ई.)-'महाभारत' की कथा का हिन्दी रूपान्तर

रघुवंश (1912 ई.)- कालिदास के 'रघुवंशम्' महाकाव्य का भाषानुवाद

वेणी-संहार (1913 ई.)- संस्कृत कवि भट्टनारायण के 'वेणीसंहार' नाटक का अनुवाद

कुमार सम्भव (1915 ई.)- कालिदास के 'कुमार सम्भव' का अनुवाद

मेघदूत (1917 ई.)- कालिदास के 'मेघदूत' का अनुवाद

किरातार्जुनीय (1917 ई.)- भारवि के 'किरातार्जुनीयम्' का अनुवाद

प्राचीन पण्डित और कवि (1918 ई.)- अन्य भाषाओं के लेखों के आधार पर प्राचीन कवियों और पण्डितों का परिचय

आख्यायिका सप्तक (1927 ई.)- अन्य भाषाओं की चुनी हुई सात आख्यायिकाओं का छायानुवाद

वर्ण्य विषय

हिंदी भाषा के प्रसार, पाठकों के रुचि परिष्कार और ज्ञानवर्धन के लिए द्विवेदी जी ने विविध विषयों पर अनेक निबंध लिखे। विषय की दृष्टि से द्विवेदी जी निबंध आठ भागों में विभाजित किए जा सकते हैं - साहित्य, जीवन चरित्र, विज्ञान, इतिहास, भूगोल, उद्योग, शिल्प भाषा, अध्यात्म। द्विवेदी जी ने आलोचनात्मक निबंधों की भी रचना की। उन्होंने आलोचना के क्षेत्र में संस्कृत टीकाकारों की भांति कृतियों का गुण-दोष विवेचन किया और खंडन-मंडन की शास्त्रार्थ पद्धति को अपनाया है।

भाषा

द्विवेदी जी सरल और सुबोध भाषा लिखने के पक्षपाती थे। उन्होंने स्वयं सरल और प्रचलित भाषा को अपनाया। उनकी भाषा में न तो संस्कृत के तत्सम शब्दों की अधिकता है और न उर्दू-फारसी के अप्रचलित शब्दों की भरमार है वे गृह के स्थान पर घर और उच्च के स्थान पर ऊँचा लिखना अधिक पसंद करते थे। द्विवेदी जी ने अपनी भाषा में उर्दू और फारसी के शब्दों का निस्संकोच प्रयोग किया, किंतु इस प्रयोग में उन्होंने केवल प्रचलित शब्दों को ही अपनाया। द्विवेदी जी की भाषा का रूप पूर्णत: स्थित है। वह शुद्ध परिष्कृत और व्याकरण के नियमों से बंधी हुई है। उनका वाक्य-विन्यास हिंदी की प्रकृति के अनुरूप है, कहीं भी वह अंग्रेजी या उर्दू के ढंग का नहीं।

शैली

द्विवेदी जी की शैली के मुख्यत: तीन रूप दृष्टिगत होते हैं-

परिचयात्मक शैली

द्विवेदी जी ने नये-नये विषयों पर लेखनी चलाई। विषय नये और प्रारंभिक होने के कारण द्विवेदी जी ने उनका परिचय सरल और सुबोध शैली में कराया। ऐसे विषयों पर लेख लिखते समय द्विवेदी जी ने एक शिक्षक की भांति एक बात को कई बार दुहराया है ताकि पाठकों की समझ में वह भली प्रकार आ जाए। इस प्रकार लेखों की शैली परिचयात्मक शैली है।

आलोचनात्मक शैली

हिंदी भाषा के प्रचलित दोषों को दूर करने के लिए द्विवेदी जी इस शैली में लिखते थे। इस शैली में लिखकर उन्होंने विरोधियों को मुंह-तोड़ उत्तर दिया। यह शैली ओजपूर्ण है। इसमें प्रवाह है और इसकी भाषा गंभीर है। कहीं-कहीं यह शैली ओजपूर्ण न होकर व्यंग्यात्मक हो जाती है। ऐसे स्थलों पर शब्दों में चुलबुलाहट और वाक्यों में सरलता रहती है। 'इस म्यूनिसिपाल्टी के चेयरमैन (जिसे अब कुछ लोग कुर्सी मैन भी कहने लगे हैं) श्रीमान बूचा शाह हैं। बाप दादे की कमाई का लाखों रुपया आपके घर भरा हैं। पढ़े-लिखे आप राम का नाम हैं। चेयरमैन आप सिर्फ इसलिए हुए हैं कि अपनी कार गुजारी गवर्नमेंट को दिखाकर आप राय बहादुर बन जाएं और खुशामदियों से आठ पहर चौंसठ घर-घिरे रहें।'

विचारात्मक अथवा गवेषणात्मक शैली

गंभीर साहित्यिक विषयों के विवेचन में द्विवेदी जी ने इस शैली को अपनाया है। इस शैली के भी दो रूप मिलते हैं। पहला रूप उन लेखों में मिलता है, जो किसी विवादग्रस्त विषय को लेकर जनसाधारण को समझाने के लिए लिखे गए हैं। इसमें वाक्य छोटे-छोटे हैं। भाषा सरल है। दूसरा रूप उन लेखों में पाया जाता है, जो विद्वानों को संबोधित कर लिखे गए हैं। इसमें वाक्य अपेक्षाकृत लंबे हैं। भाषा कुछ क्लिष्ट है। उदाहरण के लिए -

अपस्मार और विक्षिप्तता मानसिक विकार या रोग है। उसका संबंध केवल मन और मस्तिष्क से है। प्रतिभा भी एक प्रकार का मनोविकार ही है। इन विकारों

की परस्पर इतनी संलग्नता है कि प्रतिभा को अपस्मार और विक्षिप्तता से अलग करना और प्रत्येक परिणाम समझ लेना बहुत ही कठिन है।

महत्वपूर्ण कार्य

हिंदी साहित्य की सेवा करने वालों में द्विवेदी जी का विशेष स्थान है। द्विवेदी जी की अनुपम साहित्य-सेवाओं के कारण ही उनके समय को द्विवेदी युग के नाम से पुकारा जाता है।

भारतेंदु युग में लेखकों की दृष्टि की शुद्धता की ओर नहीं रही। भाषा में व्याकरण के नियमों तथा विराम-चिह्नों आदि की कोई परवाह नहीं की जाती थी। भाषा में आशा किया, इच्छा किया जैसे प्रयोग दिखाई पड़ते थे। द्विवेदी जी ने भाषा के इस स्वरूप को देखा और शुद्ध करने का संकल्प किया। उन्होंने इन अशुद्धियों की ओर आकर्षित किया और लेखकों को शुद्ध तथा परिमार्जित भाषा लिखने की प्रेरणा दी।

द्विवेदी जी ने खड़ी बोली को कविता के लिए विकास का कार्य किया। उन्होंने स्वयं भी खड़ी बोली में कविताएं लिखीं और अन्य कवियों को भी उत्साहित किया। श्री मैथिली शरण गुप्त, अयोध्या सिंह उपाध्याय जैसे खड़ी बोली के श्रेष्ठ कवि उन्हीं के प्रयत्नों के परिणाम हैं।

द्विवेदी जी ने नये-नये विषयों से हिंदी साहित्य को संपन्न बनाया। उन्हीं के प्रयासों से हिंदी में अन्य भाषाओं के ग्रंथों के अनुवाद हुए तथा हिंदी-संस्कृत के कवियों पर आलोचनात्मक निबंध लिखे गए।

4

महादेवी वर्मा

महादेवी वर्मा हिन्दी की सर्वाधिक प्रतिभावान कवयित्रियों में से हैं। वे हिन्दी साहित्य में छायावादी युग के चार प्रमुख स्तंभों, में से एक मानी जाती हैं। आधुनिक हिन्दी की सबसे सशक्त कवयित्रियों में से एक होने के कारण उन्हें आधुनिक मीरा के नाम से भी जाना जाता है। कवि निराला ने उन्हें "हिन्दी के विशाल मन्दिर की सरस्वती" भी कहा है। महादेवी ने स्वतंत्रता के पहले का भारत भी देखा और उसके बाद का भी। वे उन कवियों में से एक हैं जिन्होंने व्यापक समाज में काम करते हुए भारत के भीतर विद्यमान हाहाकार, रुदन को देखा, परखा और करुण होकर अन्धकार को दूर करने वाली दृष्टि देने की कोशिश की। न केवल उनका काव्य बल्कि उनके सामाजसुधार के कार्य और महिलाओं के प्रति चेतना भावना भी इस दृष्टि से प्रभावित रहे। उन्होंने मन की पीड़ा को इतने स्नेह और श्रृंगार से सजाया कि दीपशिखा में वह जन-जन की पीड़ा के रूप में स्थापित हुई और उसने केवल पाठकों को ही नहीं समीक्षकों को भी गहराई तक प्रभावित किया।

उन्होंने खड़ी बोली हिन्दी की कविता में उस कोमल शब्दावली का विकास किया जो अभी तक केवल बृजभाषा में ही संभव मानी जाती थी। इसके लिए उन्होंने अपने समय के अनुकूल संस्कृत और बांग्ला के कोमल शब्दों को चुनकर हिन्दी का जामा पहनाया। संगीत की जानकार होने के कारण उनके गीतों का नाद-सौंदर्य और पैनी उक्तियों की व्यंजना शैली अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होंने

अध्यापन से अपने कार्यजीवन की शुरूआत की और अंतिम समय तक वे प्रयाग महिला विद्यापीठ की प्रधानाचार्या बनी रहीं। उनका बाल-विवाह हुआ परंतु उन्होंने अविवाहित की भांति जीवन-यापन किया। प्रतिभावान कवयित्री और गद्य लेखिका महादेवी वर्मा साहित्य और संगीत में निपुण होने के साथ-साथ कुशल चित्रकार और सृजनात्मक अनुवादक भी थीं। उन्हें हिन्दी साहित्य के सभी महत्त्वपूर्ण पुरस्कार प्राप्त करने का गौरव प्राप्त है। भारत के साहित्य आकाश में महादेवी वर्मा का नाम ध्रुव तारे की भांति प्रकाशमान है। गत शताब्दी की सर्वाधिक लोकप्रिय महिला साहित्यकार के रूप में वे जीवन भर पूजनीय बनी रहीं। वर्ष 2007 उनकी जन्म शताब्दी के रूप में मनाया गया।27 अप्रैल 1982 को भारतीय साहित्य में अतुलनीय योगदान के लिए ज्ञानपीठ पुरस्कार से इन्हें सम्मानित किया गया था।

जीवनी

जन्म और परिवार

महादेवी का जन्म 26 मार्च 1907 को प्रातः 8 बजे फर्रुखाबाद उत्तर प्रदेश, भारत में हुआ। उनके परिवार में लगभग 200 वर्षों या सात पीढ़ियों के बाद पहली बार पुत्री का जन्म हुआ था। अतः बाबा बाबू बाँके विहारी जी हर्ष से झूम उठे और इन्हें घर की देवी कृ महादेवी मानते हुए पुत्री का नाम महादेवी रखा। उनके पिता श्री गोविंद प्रसाद वर्मा भागलपुर के एक कॉलेज में प्राध्यापक थे। उनकी माता का नाम हेमरानी देवी था। हेमरानी देवी बड़ी धर्म परायण, कर्मनिष्ठ, भावुक एवं शाकाहारी महिला थीं। विवाह के समय अपने साथ सिंहासनासीन भगवान की मूर्ति भी लायी थीं वे प्रतिदिन कई घंटे पूजा-पाठ तथा रामायण, गीता एवं विनय पत्रिका का पारायण करती थीं और संगीत में भी उनकी अत्यधिक रुचि थी। इसके बिल्कुल विपरीत उनके पिता गोविन्द प्रसाद वर्मा सुन्दर, विद्वान, संगीत प्रेमी, नास्तिक, शिकार करने एवं घूमने के शौकीन, मांसाहारी तथा हँसमुख व्यक्ति थे। महादेवी वर्मा के मानस बंधुओं में सुमित्रानंदन पंत एवं निराला का नाम लिया जा सकता है, जो उनसे जीवन पर्यन्त राखी बँधवाते रहे। निराला जी से उनकी अत्यधिक निकटता थी, उनकी पुष्ट कलाइयों में महादेवी जी लगभग चालीस वर्षों तक राखी बाँधती रहीं।

शिक्षा

महादेवी जी की शिक्षा इंदौर में मिशन स्कूल से प्रारम्भ हुई साथ ही संस्कृत, अंग्रेजी, संगीत तथा चित्रकला की शिक्षा अध्यापकों द्वारा घर पर ही दी जाती रही। बीच में विवाह जैसी बाधा पड़ जाने के कारण कुछ दिन शिक्षा स्थगित रही। विवाहोपरान्त महादेवी जी ने 1919 में क्रास्थवेट कॉलेज इलाहाबाद में प्रवेश लिया और कॉलेज के छात्रावास में रहने लगीं। 1921 में महादेवी जी ने आठवीं कक्षा में प्रान्त भर में प्रथम स्थान प्राप्त किया। यहीं पर उन्होंने अपने काव्य जीवन की शुरुआत की। वे सात वर्ष की अवस्था से ही कविता लिखने लगी थीं और 1925 तक जब उन्होंने मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की, वे एक सफल कवयित्री के रूप में प्रसिद्ध हो चुकी थीं। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में आपकी कविताओं का प्रकाशन होने लगा था। कालेज में सुभद्रा कुमारी चौहान के साथ उनकी घनिष्ठ मित्रता हो गई। सुभद्रा कुमारी चौहान महादेवी जी का हाथ पकड़ कर सखियों के बीच में ले जाती और कहतीं "सुनो, ये कविता भी लिखती है।" 1932 में जब उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम. ए. पास किया तब तक उनके दो कविता संग्रह नीहार तथा रश्मि प्रकाशित हो चुके थे।

वैवाहिक जीवन

सन् 1916 में उनके बाबा श्री बाँके विहारी ने इनका विवाह बरेली के पास नबाव गंज कस्बे के निवासी श्री स्वरूप नारायण वर्मा से कर दिया, जो उस समय दसवीं कक्षा के विद्यार्थी थे। श्री वर्मा इण्टर करके लखनऊ मेडिकल कॉलेज में बोर्डिंग हाउस में रहने लगे। महादेवी जी उस समय क्रास्थवेट कॉलेज इलाहाबाद के छात्रावास में थीं। श्रीमती महादेवी वर्मा को विवाहित जीवन से विरक्ति थी। कारण कुछ भी रहा हो पर श्री स्वरूप नारायण वर्मा से कोई वैमनस्य नहीं था। सामान्य स्त्री-पुरुष के रूप में उनके सम्बन्ध मधुर ही रहे। दोनों में कभी-कभी पत्राचार भी होता था। यदा-कदा श्री वर्मा इलाहाबाद में उनसे मिलने भी आते थे। श्री वर्मा ने महादेवी जी के कहने पर भी दूसरा विवाह नहीं किया। महादेवी जी का जीवन तो एक संन्यासिनी का जीवन था। उन्होंने जीवन भर श्वेत वस्त्र पहना, तख्त पर सोई और कभी शीशा नहीं देखा। सन् 1966 में पति की मृत्यु के बाद वे स्थाई रूप से इलाहाबाद में रहने लगीं।

कार्यक्षेत्र

महादेवी का कार्यक्षेत्र लेखन, संपादन और अध्यापन रहा। उन्होंने इलाहाबाद में प्रयाग महिला विद्यापीठ के विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया। यह कार्य अपने समय में महिला-शिक्षा के क्षेत्र में क्रांतिकारी कदम था। इसकी वे प्रधानाचार्य एवं कुलपति भी रहीं। 1923 में उन्होंने महिलाओं की प्रमुख पत्रिका 'चाँद' का कार्यभार संभाला। 1930 में नीहार, 1932 में रश्मि, 1934 में नीरजा, तथा 1936 में सांध्यगीत नामक उनके चार कविता संग्रह प्रकाशित हुए। 1939 में इन चारों काव्य संग्रहों को उनकी कलाकृतियों के साथ वृहदाकार में यामा शीर्षक से प्रकाशित किया गया। उन्होंने गद्य, काव्य, शिक्षा और चित्रकला सभी क्षेत्रों में नए आयाम स्थापित किये। इसके अतिरिक्त उनकी 18 काव्य और गद्य कृतियां हैं जिनमें मेरा परिवार, स्मृति की रेखाएं, पथ के साथी,शृंखला की कड़ियाँ और अतीत के चलचित्र प्रमुख हैं। सन 1955 में महादेवी जी ने इलाहाबाद में साहित्यकार संसद की स्थापना की और पं. इलाचंद्र जोशी के सहयोग से साहित्यकार का संपादन कार्य संभाला। यह इस संस्था का मुखपत्र था। उन्होंने भारत में महिला कवि सम्मेलनों की नीव रखी। इस प्रकार का पहला अखिल भारतवर्षीय कवि सम्मेलन 15 अप्रैल 1933 को सुभद्रा कुमारी चौहान की अध्यक्षता में प्रयाग महिला विद्यापीठ में संपन्न हुआ। वे हिंदी साहित्य में रहस्यवाद की प्रवर्तिका भी मानी जाती हैं।

महादेवी बौद्ध धर्म से बहुत प्रभावित थीं। महात्मा गांधी के प्रभाव से उन्होंने जनसेवा का व्रत लेकर झूसी में कार्य किया और भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में भी हिस्सा लिया। 1936 में नैनीताल से 25 किलोमीटर दूर रामगढ़ कस्बे के उमागढ़ नामक गाँव में महादेवी वर्मा ने एक बँगला बनवाया था। जिसका नाम उन्होंने मीरा मंदिर रखा था। जितने दिन वे यहाँ रहीं इस छोटे से गाँव की शिक्षा और विकास के लिए काम करती रहीं। विशेष रूप से महिलाओं की शिक्षा और उनकी आर्थिक आत्मनिर्भरता के लिए उन्होंने बहुत काम किया। आजकल इस बंगले को महादेवी साहित्य संग्रहालय के नाम से जाना जाता है। शृंखला की कड़ियाँ में स्त्रियों की मुक्ति और विकास के लिए उन्होंने जिस साहस व दृढ़ता से आवाज उठाई हैं और जिस प्रकार सामाजिक रूढ़ियों की निंदा की है उससे उन्हें महिला मुक्तिवादी भी कहा गया। महिलाओं व शिक्षा के विकास के कार्यों और जनसेवा के कारण उन्हें समाज-सुधारक भी कहा गया है। उनके संपूर्ण गद्य साहित्य में

पीड़ा या वेदना के कहीं दर्शन नहीं होते बल्कि अदम्य रचनात्मक रोष समाज में बदलाव की अदम्य आकांक्षा और विकास के प्रति सहज लगाव परिलक्षित होता है।

उन्होंने अपने जीवन का अधिकांश समय उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद नगर में बिताया। 11 सितंबर 1987 को इलाहाबाद में रात 9 बजकर 30 मिनट पर उनका देहांत हो गया।

प्रमुख कृतियाँ

महादेवी जी कवयित्री होने के साथ-साथ विशिष्ट गद्यकार भी थीं। उनकी कृतियाँ इस प्रकार हैं।

महादेवी वर्मा की प्रमुख गद्य रचनाएँ

कविता संग्रह

1. नीहार (1930)
2. रश्मि (1932)
3. नीरजा (1934)
4. सांध्यगीत (1936)
5. दीपशिखा (1942)
6. सप्तपर्णा (अनूदित-1959)
7. प्रथम आयाम (1974)
8. अग्निरेखा (1990)।

श्रीमती महादेवी वर्मा के अन्य अनेक काव्य संकलन भी प्रकाशित हैं, जिनमें उपर्युक्त रचनाओं में से चुने हुए गीत संकलित किये गये हैं, जैसे आत्मिका, परिक्रमा, सन्धिनी (1965), यामा (1936), गीतपर्व, दीपगीत, स्मारिका, नीलांबरा और आधुनिक कवि महादेवी आदि।

महादेवी वर्मा का गद्य साहित्य

रेखाचित्र: अतीत के चलचित्र (1941) और स्मृति की रेखाएं (1943),

संस्मरणरू पथ के साथी (1956) और मेरा परिवार (1972) और संस्मरण (1983)

चुने हुए भाषणों का संकलनरू संभाषण (1974)

निबंधः शृंखला की कड़ियाँ (1942), विवेचनात्मक गद्य (1942), साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निबंध (1962), संकल्पिता (1969)

ललित निबंधः क्षणदा (1956)

कहानियाँः गिल्लू

संस्मरण, रेखाचित्र और निबंधों का संग्रहः हिमालय (1963),

अन्य निबंध में संकल्पिता तथा विविध संकलनों में स्मारिका, स्मृति चित्र, संभाषण, संचयन, दृष्टिबोध उल्लेखनीय हैं। वे अपने समय की लोकप्रिय पत्रिका 'चाँद' तथा 'साहित्यकार' मासिक की भी संपादक रहीं। हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए उन्होंने प्रयाग में 'साहित्यकार संसद' और रंगवाणी नाट्य संस्था की भी स्थापना की।

महादेवी वर्मा का बाल साहित्य

महादेवी वर्मा की बाल कविताओं के दो संकलन छपे हैं।

- ठाकुरजी भोले हैं
- आज खरीदेंगे हम ज्वाला
- समालोचना

महादेवी की काव्यगत विशेषताएँ

आधुनिक गीत काव्य में महादेवी जी का स्थान सर्वोपरि है। उनकी कविता में प्रेम की पीर और भावों की तीव्रता वर्तमान होने के कारण भाव, भाषा और संगीत की जैसी त्रिवेणी उनके गीतों में प्रवाहित होती है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। महादेवी के गीतों की वेदना, प्रणयानुभूति, करुणा और रहस्यवाद काव्यानुरागियों को आकर्षित करते हैं। पर इन रचनाओं की विरोधी आलोचनाएँ सामान्य पाठक को दिग्भ्रमित करती हैं। आलोचकों का एक वर्ग वह है, जो यह मानकर चलते हैं कि महादेवी का काव्य नितान्त वैयक्तिक है। उनकी पीड़ा, वेदना, करुणा, कृत्रिम और बनावटी है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसे मूर्धन्य आलोचकों ने उनकी वेदना और अनुभूतियों की सच्चाई पर प्रश्न चिह्न लगाया है। दूसरी ओर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे समीक्षक उनके काव्य को समष्टि परक मानते हैं।

शोमेर ने 'दीप' (नीहार), मधुर मधुर मेरे दीपक जल (नीरजा) और मोम सा तन गल चुका है कविताओं को उद्धृत करते हुए निष्कर्ष निकाला है कि ये कविताएं महादेवी के 'आत्मभक्षी दीप' अभिप्राय को ही व्याख्यायित नहीं करतीं बल्कि उनकी कविता की सामान्य मुद्रा और बुनावट का प्रतिनिधि रूप भी मानी जा सकती हैं।

सत्यप्रकाश मिश्र छायावाद से संबंधित उनकी शास्त्र मीमांसा के विषय में कहते हैं "महादेवी ने वैदुष्य युक्त तार्किकता और उदाहरणों के द्वारा छायावाद और रहस्यवाद के वस्तु शिल्प की पूर्ववर्ती काव्य से भिन्नता तथा विशिष्टता ही नहीं बतायी, यह भी बताया कि वह किन अर्थों में मानवीय संवेदन के बदलाव और अभिव्यक्ति के नयेपन का काव्य है। उन्होंने किसी पर भाव साम्य, भावोपहरण आदि का आरोप नहीं लगाया केवल छायावाद के स्वभाव, चरित्र, स्वरूप और विशिष्टता का वर्णन किया।"

प्रभाकर श्रोत्रिय जैसे मनीषी का मानना है कि जो लोग उन्हें पीड़ा और निराशा की कवयित्री मानते हैं वे यह नहीं जानते कि उस पीड़ा में कितनी आग है, जो जीवन के सत्य को उजागर करती है।

यह सच है कि महादेवी का काव्य संसार छायावाद की परिधि में आता है, पर उनके काव्य को उनके युग से एकदम असम्पृक्त करके देखना, उनके साथ अन्याय करना होगा। महादेवी एक सजग रचनाकार हैं। बंगाल के अकाल के समय 1943 में इन्होंने एक काव्य संकलन प्रकाशित किया था और बंगाल से सम्बंधित "बंग भू शत वंदना" नामक कविता भी लिखी थी। इसी प्रकार चीन के आक्रमण के प्रतिवाद में हिमालय नामक काव्य संग्रह का संपादन किया था। यह संकलन उनके युगबोध का प्रमाण है।

गद्य साहित्य के क्षेत्र में भी उन्होंने कम काम नहीं किया। उनका आलोचना साहित्य उनके काव्य की भांति ही महत्वपूर्ण है। उनके संस्मरण भारतीय जीवन के संस्मरण चित्र हैं।

उन्होंने चित्रकला का काम अधिक नहीं किया फिर भी जलरंगों में 'वॉश' शैली से बनाए गए उनके चित्र धुंधले रंगों और लयपूर्ण रेखाओं का कारण कला के सुंदर नमूने समझे जाते हैं। उन्होंने रेखाचित्र भी बनाए हैं। दाहिनी ओर करीन शोमर की किताब के मुखपृष्ठ पर महादेवी द्वारा बनाया गया रेखाचित्र ही रखा गया है। उनके अपने कविता संग्रहों यामा और दीपशिखा में उनके रंगीन चित्रों और रेखांकनों को देखा जा सकता है।

पुरस्कार व सम्मान

डाकटिकट

उन्हें प्रशासनिक, अर्धप्रशासनिक और व्यक्तिगत सभी संस्थाओं से पुरस्कार व सम्मान मिले।

1943 में उन्हें 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' एवं 'भारत भारती' पुरस्कार से सम्मानित किया गया। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद 1952 में वे उत्तर प्रदेश विधान परिषद की सदस्या मनोनीत की गयीं। 1956 में भारत सरकार ने उनकी साहित्यिक सेवा के लिये 'पद्म भूषण' की उपाधि दी। 1979 में साहित्य अकादमी की सदस्यता ग्रहण करने वाली वे पहली महिला थीं। 1988 में उन्हें मरणोपरांत भारत सरकार की पद्म विभूषण उपाधि से सम्मानित किया गया।

सन 1969 में विक्रम विश्वविद्यालय, 1977 में कुमाऊं विश्वविद्यालय, नैनीताल, 1980 में दिल्ली विश्वविद्यालय तथा 1984 में बनारस हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी ने उन्हें डी.लिट की उपाधि से सम्मानित किया।

इससे पूर्व महादेवी वर्मा को 'नीरजा' के लिये 1934 में 'सक्सेरिया पुरस्कार', 1942 में 'स्मृति की रेखाएँ' के लिये 'द्विवेदी पदक' प्राप्त हुए। 'यामा' नामक काव्य संकलन के लिये उन्हें भारत का सर्वोच्च साहित्यिक सम्मान 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' प्राप्त हुआ। वे भारत की 50 सबसे यशस्वी महिलाओं में भी शामिल हैं।

1968 में सुप्रसिद्ध भारतीय फिल्मकार मृणाल सेन ने उनके संस्मरण 'वह चीनी भाई' पर एक बांग्ला फिल्म का निर्माण किया था जिसका नाम था नील आकाशेर नीचे।

16 सितंबर 1991 को भारत सरकार के डाकतार विभाग ने जयशंकर प्रसाद के साथ उनके सम्मान में 2 रुपए का एक युगल टिकट भी जारी किया है।

महादेवी वर्मा का योगदान

साहित्य में महादेवी वर्मा का आविर्भाव उस समय हुआ जब खड़ीबोली का आकार परिष्कृत हो रहा था। उन्होंने हिन्दी कविता को बृजभाषा की कोमलता दी, छंदों के नये दौर को गीतों का भंडार दिया और भारतीय दर्शन को वेदना की हार्दिक स्वीकृति दी। इस प्रकार उन्होंने भाषा साहित्य और दर्शन तीनों क्षेत्रों में

ऐसा महत्त्वपूर्ण काम किया जिसने आने वाली एक पूरी पीढ़ी को प्रभावित किया। शचीरानी गुर्टू ने भी उनकी कविता को सुसज्जित भाषा का अनुपम उदाहरण माना है। उन्होंने अपने गीतों की रचना शैली और भाषा में अनोखी लय और सरलता भरी है, साथ ही प्रतीकों और बिंबों का ऐसा सुंदर और स्वाभाविक प्रयोग किया है, जो पाठक के मन में चित्र सा खींच देता है।ख्ज, छायावादी काव्य की समृद्धि में उनका योगदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। छायावादी काव्य को जहाँ प्रसाद ने प्रकृति तत्त्व दिया, निराला ने उसमें मुक्तछंद की अवतारणा की और पंत ने उसे सुकोमल कला प्रदान की वहाँ छायावाद के कलेवर में प्राण-प्रतिष्ठा करने का गौरव महादेवी जी को ही प्राप्त है। भावात्मकता एवं अनुभूति की गहनता उनके काव्य की सर्वाधिक प्रमुख विशेषता है। हृदय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव-हिलोरों का ऐसा सजीव और मूर्त अभिव्यंजन ही छायावादी कवियों में उन्हें 'महादेवी' बनाता है। वे हिन्दी बोलने वालों में अपने भाषणों के लिए सम्मान के साथ याद की जाती हैं। उनके भाषण जन सामान्य के प्रति संवेदना और सच्चाई के प्रति दृढ़ता से परिपूर्ण होते थे। वे दिल्ली में 1983 में आयोजित तीसरे विश्व हिन्दी सम्मेलन के समापन समारोह की मुख्य अतिथि थीं। इस अवसर पर दिये गये उनके भाषण में उनके इस गुण को देखा जा सकता है।

यद्यपि महादेवी ने कोई उपन्यास, कहानी या नाटक नहीं लिखा तो भी उनके लेख, निबंध, रेखाचित्र, संस्मरण, भूमिकाओं और ललित निबंधों में जो गद्य लिखा है वह श्रेष्ठतम गद्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। उसमें जीवन का संपूर्ण वैविध्य समाया है। बिना कल्पना और काव्यरूपों का सहारा लिए कोई रचनाकार गद्य में कितना कुछ अर्जित कर सकता है, यह महादेवी को पढ़कर ही जाना जा सकता है। उनके गद्य में वैचारिक परिपक्वता इतनी है कि वह आज भी प्रासंगिक है। समाज सुधार और नारी स्वतंत्रता से संबंधित उनके विचारों में दृढ़ता और विकास का अनुपम सामंजस्य मिलता है। सामाजिक जीवन की गहरी परतों को छूने वाली इतनी तीव्र दृष्टि, नारी जीवन के वैषम्य और शोषण को तीखेपन से आंकने वाली इतनी जागरूक प्रतिभा और निम्न वर्ग के निरीह, साधनहीन प्राणियों के अनूठे चित्र उन्होंने ही पहली बार हिंदी साहित्य को दिये।

मौलिक रचनाकार के अलावा उनका एक रूप सृजनात्मक अनुवादक का भी है जिसके दर्शन उनकी अनुवाद-कृत 'सप्तपर्णा' (1960) में होते हैं। अपनी सांस्कृतिक चेतना के सहारे उन्होंने वेद, रामायण, थेरगाथा तथा अश्वघोष, कालिदास, भवभूति एवं जयदेव की कृतियों से तादात्म्य स्थापित करके 39

चयनित महत्वपूर्ण अंशों का हिन्दी काव्यानुवाद इस कृति में प्रस्तुत किया है। आरंभ में 61 पृष्ठीय 'अपनी बात' में उन्होंने भारतीय मनीषा और साहित्य की इस अमूल्य धरोहर के सम्बंध में गहन शोधपूर्ण विमर्ष किया है, जो केवल स्त्री-लेखन को ही नहीं हिंदी के समग्र चिंतनपरक और ललित लेखन को समृद्ध करता है।

पथ के साथी

पथ के साथी महादेवी वर्मा द्वारा लिखे गए संस्मरणों का संग्रह है, जिसमे उन्होंने अपने समकालीन रचनाकारों का चित्रण किया है। जिस सम्मान और आत्मीयतापूर्ण ढंग से उन्होंने इन साहित्यकारों का जीवन-दर्शन और स्वभावगत महानता को स्थापित किया है वह अपने आप में बड़ी उपलब्धि है। 'पथ के साथी' में संस्मरण भी हैं और महादेवी द्वारा पढ़े गए कवियों के जीवन पृष्ठ भी। उन्होंने एक ओर साहित्यकारों की निकटता, आत्मीयता और प्रभाव का काव्यात्मक उल्लेख किया है और दूसरी ओर उनके समग्र जीवन दर्शन को परखने का प्रयत्न किया है।

'पथ के साथी' में निम्नलिखित 11 संस्मरणों का संग्रह किया गया है–

1. दद्दा (मैथिली शरण गुप्त)
2. निराला (भाई)
3. स्मरण (प्रेमचंद)
4. प्रसाद
5. सुमित्रानंदन पंत
6. सुभद्रा कुमारी चौहान
7. प्रणाम (रवींद्रनाथ ठाकुर)
8. पुण्य स्मरण (महात्मा गांधी)
9. राजेन्द्रबाबू (बाबू राजेन्द्र प्रसाद)
10. जवाहर भाई (जवाहरलाल नेहरू)
11. संत राजर्षि (पुरुषोत्तमदास टंडन)।

लेखिका कथन

साहित्यकार की साहित्य-सृष्टि का मूल्यांकन तो अनेक आगत-अनागत युगों में हो सकता है, पर उनके जीवन की कसौटी उसका अपना युग ही रहेगा।

पर यह कसौटी जितनी अकेली है, उतनी निर्भान्त नहीं। देश-काल की सीमा में आबद्ध जीवन न इतना असंग होता है कि अपने परिवेश और परिवेशियों से उसका कोई संघर्ष न हो और न यह संघर्ष इतना तरल होता है कि उसके आघातों के चिह्न शेष न रहें। एक कर्म विविध ही नहीं, विरोधी अनुभूतियाँ भी जगा सकता है। खेल का एक ही कर्म जीतने वाले के लिए सुखद और हारने वाले के लिए दु:खद अनुभूतियों का कारण बन जाता है। जो हमें प्रिय है, वह हमारे हित के परिवेश में ही प्रिय है और अप्रिय है, वह हमारे अहित के परिवेश में ही अपनी स्थिति रखता है। यह अहित, प्रत्यक्ष कर्म से सूक्ष्म भाव-जगत् तक फैला रह सकता है। हमारे दर्शन, साहित्य आदि विविध साधनों से प्राप्त संस्कार, हमें अपने परिवेश के प्रति उदार बनाने का ही लक्ष्य रखते हैं पर, मनुष्य का अहम प्राय: उन साधनों से विद्रोह करता रहता है।

अपने अग्रजों सहयोगियों के सम्बन्ध में, अपने-आप को दूर रखकर कुछ कहना सहज नहीं होता। मैंने साहस तो किया है, पर ऐसे स्मरण के लिए आवश्यक निर्लिप्तता या असंगता मेरे लिए संभव नहीं है। मेरी दृष्टि के सीमित शीशे में वे जैसे दिखाई देते हैं, उससे वे बहुत उज्ज्वल और विशाल हैं, इसे मानकर पढ़ने वाले ही उनकी कुछ झलक पा सकेंगे। –महादेवी वर्मा

साहित्यकार की साहित्य-सृष्टि का मूल्यांकन तो अनेक आगत-अनागत युगों में हो सकता हैय पर उनके जीवन की कसौटी उसका अपना युग ही रहेगा।

पर यह कसौटी जितनी अकेली है, उतनी निर्भान्त नहीं। देश-काल की सीमा में आबद्ध जीवन न इतना असंग होता है कि अपने परिवेश और परिवेशियों से उसका कोई संघर्ष न हो और न यह संघर्ष इतना तरल होता है कि उसके आघातों के चिह्न शेष न रहें।

एक कर्म विविध ही नहीं, विरोधी अनुभूतियाँ भी जगा सकता है। खेल का एक ही कर्म जीतने वाले के लिए सुखद और हारने वाले के लिए दु:खद अनुभूतियों का कारण बन जाता है।

जो हमें प्रिय है, वह हमारे हित के परिवेश में ही प्रिय है और अप्रिय है, वह हमारे अहित के परिवेश में ही अपनी स्थिति रखता है। यह अहित, प्रत्यक्ष कर्म से सूक्ष्म भाव-जगत् तक फैला रह सकता है। हमारे दर्शन, साहित्य आदि विविध साधनों से प्राप्त संस्कार, हमें अपने परिवेश के प्रति उदार बनाने का ही लक्ष्य रखते हैं पर, मनुष्य का अहम प्राय: उन साधनों से विद्रोह करता रहता है।

अपने अग्रजों सहयोगियों के सम्बन्ध में, अपने-आप को दूर रखकर कुछ कहना सहज नहीं होता। मैंने साहस तो किया हैय पर ऐसे स्मरण के लिए आवश्यक निर्लिप्तता या असंगता मेरे लिए संभव नहीं है। मेरी दृष्टि के सीमित शीशे में वे जैसे दिखाई देते हैं, उससे वे बहुत उज्जवल और विशाल हैं, इसे मानकर पढ़ने वाले ही उनकी कुछ झलक पा सकेंगे।

'पथ के साथी' में व्याप्त जीवन-दृष्टि

'पथ के साथी' महादेवी वर्मा द्वारा रचित संस्मरण साहित्य है जिसका प्रकाशन सन् 1956 में हुआ था। इस रचना में महादेवी ने अपने समकालीन साहित्यकारों का वर्णन किया है, जो अपनी विधा की बेजोड़ साहित्यिक कृति है। 'पथ के साथी' में महादेवी वर्मा ने अपने समकालीन लेखकों का वर्णन किया है। जिनमें रविन्द्ररनाथ टैगोर, मैथिलीशरण गुप्त, सुभद्रा कुमारी चौहान, जयशंकर प्रसाद, निराला और सियारामशरण गुप्त का वर्णन किया गया है। 'पथ के साथी' एक संस्मरणात्मक रचना है इनमें जिन कवियों का जिक्र महादेवी करती है उनसे वे अपने जीवन में गहरे रूप से जुड़ी है। लेखिका अपने जीवन में अनेक लोगों से जुड़ी जिनमें से कई के व्यक्तित्त्व से वे प्रभावित भी हुईं। सरल शब्दों में यदि कहा जाए तो अपनी गहराई में दूसरों को खोजना और दूसरों की अनेकता में स्वयं की तलाश महादेवी की विशेषता रही है।

'पथ के साथी' में चित्रित प्रत्येक कवि का व्यक्तित्त्व एक जीवन दृष्टि लिए हुए दिखाई देता है। इस संस्मरण में वर्णित सबसे पहले कवि रविन्द्र को महादेवी तीन प्रकार के परिवेश में देखती है जिससे उत्पन्न अनुभूति कोमल, प्रभात, प्रखर दोपहरी और कोलाहल में विश्राम का संकेत देती हुई संध्या के समान है। रविन्द्र के दर्शन ने महादेवी के कल्पना को अधिक सजीवता प्रदान की थी। उनका व्यक्तित्त्व महादेवी को घट के जल सा प्रतीत होता है। वे लिखती हैं-"वर्तमान विद्यार्थी को अपने संस्कृति को मानना तथा उनके जीवन मूल्यों को आत्मसाक्षात् करना चाहिए। अपनी पहचान बनाने के उपरांत ही वह अंतरराष्ट्रीय जगत् में भारत की पहचान बना सकता है।"

महादेवी निराला में भाई-बहन का संबंध था, इस तथ्य की पुष्टि महादेवी स्वयं करती है। लेखिका ने कवि निराला के जीवन को बड़े निकटता से देखा था। विद्रोही कहे जाने वाला यह कवि जीवन में कितना अकेला, आधारभूत साधनों से हीन व्यक्ति है, किन्तु उसका हृदय इतना सरल है कि दूसरे की पीड़ा

को अपनी पीड़ा समझता है। कवि की यह सहृदयता सिर्फ दिखावे की नहीं है। महादेवी एक स्थान पर कहती है-"सबेरे चार बजे ही फाटक खटखटा कर जब उन्होंने तार के उत्तर के संबंध में पूछा तब मुझे ज्ञात हुआ कि वे रातभर पार्क में खुले आकाश के नीचे ओस से भीगी दूब पर बैठे सवेरे की प्रतीक्षा करते रहे हैं।" निराला की यह चिंता उनके समकालीन कवि सुमित्रानंदन पंत जी के लिए थी जो टाईफाइड ज्वर से पीड़ित थे। निराला ने आर्थिक कमी देखी थी। यदि कहा जाए कि जीवन जीने के लिए एक सामान्य व्यक्ति को जो साधन चाहिए होते हैं निराला उनसे वंचित रहे तो गलत न होगा। किन्तु इन विषमताओं को झेलते हुए भी उनके हृदय में कटुता की जगह सब के लिए ममत्व की भावना ही पली यह बड़ी बात है।

महादेवी ने जयशंकर प्रसाद की तुलना एक देवदारू वृक्ष से की है, जो हिमालय की गर्वीली चोटी के समान ऊँचा है बड़े-बड़े आंधी-तूफान भी उसके जड़ को नहीं हिला पाते। महादेवी ने अपने संस्मरण में महान कवियों के हृदय को जैसे खोल कर रख दिया है। लेखिका की दृष्टि इतनी पैनी है कि चाहे प्रसाद हो या पंत उनकी दृष्टि सबको भेद लेती है। कोमलकान्ति कहे जाने वाले सुकुमार कवि सुमित्रानंदन पंत के जीवन के पीछे छिपी कठोरता को महादेवी ने देखा था। एक बालक जो बचपन से ही मातृप्रेम की छाया से वंचित रहा था उसे यदि लोगों का प्रेम मिला भी तो सिर्फ दया के रूप में। पंत ने अपने जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव देखे थे किन्तु उनका चित्त हमेशा प्रसन्न रहता था किसी मूल्यवान वस्तु को पा लेने का सुख और उसे खो देने का दु:ख ये दोनों बातें पंत के लिए अलग-अलग भाव न थे, अर्थात् वे जिस प्रकार खुश में प्रसन्नचित्त होते थे उसी प्रकार दुरूख में भी। उनकी इसी विशेषता के कारण शायद वे हिन्दी के श्रेष्ठ कवि बने। एक तथ्य तो पूर्ण रूप से कहा जा सकता है कि कुछ विशेषताएं जो कवि को आम से खास बना देती है और जिसका उपयोग आम व्यक्ति भी अपने जीवन में प्रेरणा स्रोत रूप में कर सकता है। कोई भी व्यक्ति जन्म से खास नहीं होता उसे उसकी परिस्थितियां मूल्यवान बनाती है।

जिस तरह सोना आग में तप कर ही खरा होता उसी प्रकार साहित्यकार भी अपने परिस्थिति से उपजा होता है, जो संघर्षरत होकर समाज में नयी जीवन दृष्टि की पहचान करता है। व्यक्ति के मानसिक विकास में शारीरिक रूग्णकता कभी बाधा नहीं डाल सकती। यदि व्यक्ति दृढ़ निश्चयी है तो वह कुछ भी कर सकता है। 'पथ के साथी' नामक संस्मरण में महादेवी जी ने इसी तथ्य को

सियारामशरण गुप्त जी के माध्यम से दर्शाया है। गुप्त जी शरीर से कमजोर थे साथ ही एक साधारण व्यक्तित्त्व के स्वामी थे। गुप्त जी अपनी पत्नी से बहुत प्रकम करते थे। उन्होंने पत्नी की मृत्यु के बाद विरह वेदना को झेला था। पत्नी के प्रति उनका सारा प्रेम समर्पित था, किन्तु उनकी मृत्यु के बाद वे उस क्षण बैठ कर रो भी नहीं पाए। गुप्त जी ज्यादा पढ़े लिखे भी नहीं थे, परंतु कविता करने का गुण उन्हें कहां से प्राप्त हुआ यह आश्चर्य में डालता है। सच ही है, किन्तु गुप्त जी के जीवन की ये विषमताएं कभी उनके कविता व्यवहार में बाधा न बन पाई। उन्होंने आम आदमी की वेदना को सहते हुए माँ सरस्वती की वंदना की है, जो अपने आप में अनुपम कार्य है।

महादेवी के इस संस्मरण में सुभद्राकुमारी चौहान ही एक ऐसी नारी पात्र है जिन्होंने नारी जीवन की कठिनाइयों से लड़ते हुए भी अपने कवयित्री अस्तित्त्व को कायम रखा। स्त्री समाज की उपेक्षा का पात्र बनती है। कई परंपराओं में बांध कर उसे रखा जाता है ताकि वह विकास न कर पाए। सुभद्रा जी ने भी अपने जीवन में अनेक कठिनाइयों को झेला था। उन्होंने कई वर्ष जेल में काटे, बच्चों के लालन-पालन में आर्थिक दिक्कतों का सामना किया किंतु तब भी उनका विचार प्रगतिशील रहा। महादेवी केवल कविताओं के कानन की रानी नहीं है गद्यात्मक निबंधों में भी उनकी लेखनी बेजोड़ है। महादेवी के संस्मरण (पथ के साथी) में केवल वैचारिकता ही नहीं है बल्कि मानसिक ग्रंथियों के साथ ही हृदयवादी आस्था भी प्रमाणित रूप से चित्रित हुई है। महादेवी एक विशिष्ट संपन्न दृष्टि रखती है। इसका प्रमाण उनके रेखाचित्रों और संस्मरणों में देखने को मिलता है। लेखिका के भाषा में एक ऐसी चित्रात्मकता है कि बिम्ब स्वतः ही आँखों के सामने उपस्थित हो जाता है।

'पथ के साथी' में महादेवी की पारखी दृष्टि सामने आई है। कई आलोचक बड़ी आसानी से कई बड़े-बड़े लेखकों या कवियों की प्रशंसा के पुल बांध देते हैं या उनकी आलोचना किसी न किसी विचारधारा के तहत कर देते हैं। यहां महादेवी भी एक आलोचक के रूप में खड़ी होती प्रतीत होती है, जो अपने समकालीन कवियों को किसी विचारधारा के खांचे में खड़ा कर उसका मूल्यांकन नहीं करती। वे तो ऐसी प्रहरी हैं, जो कवियों के हृदय में झाँक कर उनकी विशेषताएं पहचान लेती हैं। कोई भी कवि (निराला, पंत या सुभद्रा कुमारी चौहान) उनकी पारखी नजर से बच नहीं पाता। व्यक्ति अपने युग का सृष्टा कैसे

बन सकता है या यूं कहें कि युग अपने रचयिता का निर्माण स्वयं कैसे करता है। एक साहित्यकार किन परिस्थितियों को झेल कर अपने युग का सृष्टा होता है यह महादेवी ने बखूब ही दर्शाया है।

मेरा परिवार

मेरा परिवार एक संस्मरण-संग्रह है जिसकी रचायिता महादेवी वर्मा हैं। इसमें उन्होंने अपने पालतू पशुओं के संस्मरण लिखे हैं। प्रस्तुत पुस्तक में महादेवी वर्मा जी ने 7 संस्मरण लिखे हैं।

पुस्तकांश

इसमें महादेवी जी ने उत्कृष्ट कहानियों का संकलन किया है। यह सभी कहानियाँ वन्य जीवन पर आधारित है। महाकवयित्री श्रीमती महादेवी वर्मा ने अत्यन्त विनयवश ही अपनी इस कृति को 'मेरा परिवार' नाम दिया गया है। वास्तविकता यह है कि इस महाप्राणशील कवयित्री का परिवार बहुत विशाल हैं- कल्पनातीत रूप से विशाल। पंचतंत्र के जिस पशु-पात्र ने घोर स्वार्थ की प्रवृत्ति से प्रेरित होकर एक दूसरे पशु-पात्र के कानों में यह उपदेश भरा था कि 'उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्, उसके भीतर जीव-मात्र के प्रति प्रेम की संवेदना नहीं वरन् अत्यन्त दुष्टतापूर्ण चातुरी भरी थी।

उच्च स्तरीय संवेदना

इसलिए महादेवी जी की उच्चतम-स्तरीय संवेदना के लिए उक्त बहुउद्धत और पिष्टपेषित 'सूक्ति' का उपयोग करने में अत्यन्त संकोच का अनुभव होता है, क्योंकि कवयित्री की संवेदना अत्यन्त मार्मिक और जन्म-जन्मान्तर की मानवीय अनुभूति के शोधन, परिशोधन और परिशोधन के सुदार्घ योगाभ्यास के फलस्वरूप वर्षाकालीन निविड़ मेघ के स्वत: स्फूर्त वर्षण और गहन पर्वत-प्रसूत निर्झर के अनिरुद्ध प्रवाह की तरह सहज-विमुक्त और निश्चल सृजनशील प्रकृति के आदिम गतिशीलता की तरह एकांत स्वाभाविक है। अपने एक-एक लघुत्तम और सर्वथा उपेक्षित मानवेतर पात्र की सूक्ष्म से संवेदना को प्रकृति-माता के जिस अति-संवेदनशील राडार की तरह पकड़ कर जो मर्ममोहक अभिव्यक्ति दी है, वैसी स्पर्शातीत और ईथरीय भावग्राहिता कोमल से कोमल अनुभूति वाले कवियों में भी अधिक सुलभ नहीं है, पंचतंत्र के पशु-पात्रों की तो बात ही क्या है।

वास्तविकता तो यह है कि महादेवी जी ने कुछ विशिष्ट मानवेतर प्राणियों के प्रति जिस अपनी सहज, सौहार्द्र और एकांत आत्मीयता की अभिव्यंजना का जो अपूर्व कला-कौशल अपने इन चित्रों में व्यक्त किया है, वह केवल उनकी अपनी ही कली की विशिष्टता की दृष्टि से नहीं वरन् संसार-साहित्य की इस कोटि की कला के समग्र क्षेत्र में भी बेमिसाल और बेजोड़ हैं। ये कृतियाँ मानवीय भावज्ञता, संवेदना और कलात्मक प्रतिभा के अपूर्व निदर्शन की दृष्टि से शाब्दिक अर्थ में अपूर्व और अद्‌भुत कलात्मक चमत्कार के नमूने हैं। 'करौं काह मुख एक प्रशंसा?' एक मुख से उनकी कला की प्रशंसा कैसे करूँ ! क्योंकि ये शब्द-चित्रण अनेक दृष्टिकोणों से प्रशंसा की अतिश्योक्ति की सीमा को भी पार कर जाते हैं।

5

अज्ञेयः संस्मरण

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय, को कवि, शैलीकार, कथा-साहित्य को एक महत्त्वपूर्ण मोड़ देने वाले कथाकार, ललित-निबन्धकार, सम्पादक और अध्यापक के रूप में जाना जाता है। इनका जन्म 7 मार्च 1911 को उत्तर प्रदेश के कसया, पुरातत्त्व-खुदाई शिविर में हुआ। बचपन लखनऊ, कश्मीर, बिहार और मद्रास में बीता। बी.एससी. करके अंग्रेजी में एम.ए. करते समय क्रांतिकारी आन्दोलन से जुड़कर बम बनाते हुए पकड़े गये और वहाँ से फरार भी हो गए। सन् 1930 ई. के अन्त में पकड़ लिये गये। अज्ञेय प्रयोगवाद एवं नई कविता को साहित्य जगत में प्रतिष्ठित करने वाले कवि हैं। अनेक जापानी हाइकु कविताओं को अज्ञेय ने अनूदित किया। बहुआयामी व्यक्तित्त्व के एकान्तमुखी प्रखर कवि होने के साथ-साथ वे एक अच्छे फोटोग्राफर और सत्यान्वेषी पर्यटक भी थे।

जीवन परिचय

प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा पिता की देख-रेख में घर पर ही संस्कृत, फारसी, अंग्रेजी और बांग्ला भाषा व साहित्य के अध्ययन के साथ हुई। 1925 में पंजाब से एंट्रेंस की परीक्षा पास की और उसके बाद मद्रास क्रिश्चियन कॉलेज में दाखिल हुए। वहाँ से विज्ञान में इंटर की पढ़ाई पूरी कर 1927 में वे बी.एससी. करने के लिए लाहौर के फॅरमन कॉलेज के छात्र बने। 1929 में बी. एससी. करने के बाद एम.ए. में उन्होंने अंग्रेजी विषय लियाय पर क्रांतिकारी गतिविधियों में हिस्सा लेने के कारण पढ़ाई पूरी न हो सकी।

कार्यक्षेत्र

1930 से 1936 तक विभिन्न जेलों में कटे। 1936-37 में सैनिक और विशाल भारत नामक पत्रिकाओं का संपादन किया। 1943 से 1946 तक ब्रिटिश सेना में रहे। इसके बाद इलाहाबाद से प्रतीक नामक पत्रिका निकाली और ऑल इंडिया रेडियो की नौकरी स्वीकार की। देश-विदेश की यात्राएं कीं। जिसमें उन्होंने कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय से लेकर जोधपुर विश्वविद्यालय तक में अध्यापन का काम किया। दिल्ली लौटे और दिनमान साप्ताहिक, नवभारत टाइम्स, अंग्रेजी पत्र वाक् और एवरीमैंस जैसी प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं का संपादन किया। 1980 में उन्होंने वत्सलनिधि नामक एक न्यास की स्थापना की जिसका उद्देश्य साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में कार्य करना था। दिल्ली में ही 4 अप्रैल 1987 को उनकी मृत्यु हुई। 1964 में आँगन के पार द्वार पर उन्हें साहित्य अकादमी का पुरस्कार प्राप्त हुआ और 1978 में कितनी नावों में कितनी बार पर भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार।

प्रमुख कृतियां

कविता संग्रहः-भग्नदूत 1933, चिन्ता 1942,इत्यलम् 1946,हरी घास पर क्षण भर 1949, बावरा अहेरी 1954,इन्द्रधनुष रौंदे हुये ये 1957,अरी ओ करुणा प्रभामय 1959,आँगन के पार द्वार 1961, कितनी नावों में कितनी बार (1967), क्योंकि मैं उसे जानता हूँ (1970), सागर मुद्रा (1970), पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ (1974), महावृक्ष के नीचे (1977), नदी की बाँक पर छाया (1981), प्रिजन डेज एण्ड अदर पोयम्स (अंग्रेजी में,1946)।

कहानियाँः-विपथगा 1937, परम्परा 1944, कोठरीकी बात 1945, शरणार्थी 1948, जयदोल 1951

उपन्यासः-शेखर एक जीवनी- प्रथम भाग(उत्थान)1941, द्वितीय भाग(संघर्ष)1944,नदी के द्वीप 1951, अपने अपने अजनबी 1961।

यात्रा वृतान्तः-अरे यायावर रहेगा याद! 1943,एक बूँद सहसा उछली 1960।

निबंध संग्रहः-सबरंग, त्रिशंकु, आत्मनेपद, आधुनिक साहित्यः एक आधुनिक परिदृश्य, आलवाल।

आलोचनाः-त्रिशंकु 1945, आत्मनेपद 1960, भवन्ती 1971, अद्यतन 1971 ई.।

संस्मरणः स्मृति लेखा

डायरियांः भवंती, अंतरा और शाश्वती।

विचार गद्यः संवत्स्सर

नाटकः उत्तरप्रियदर्शी

जीवनीः रामकमल राय द्वारा लिखित शिखर से सागर तक

संपादित ग्रंथः- आधुनिक हिन्दी साहित्य (निबन्ध संग्रह)1942, तार सप्तक (कविता संग्रह) 1943, दूसरा सप्तक (कविता संग्रह)1951, तीसरा सप्तक (कविता संग्रह), सम्पूर्ण 1959, नये एकांकी 1952, रूपांबरा 1960।

उनका लगभग समग्र काव्य सदानीरा (दो खंड) नाम से संकलित हुआ है तथा अन्यान्य विषयों पर लिखे गए सारे निबंध सर्जना और सन्दर्भ तथा केंद्र और परिधि नामक ग्रंथो में संकलित हुए हैं। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के संपादन के साथ-साथ अज्ञेय ने तारसप्तक, दूसरा सप्तक और तीसरा सप्तक जैसे युगांतरकारी काव्य संकलनों का भी संपादन किया तथा पुष्करिणी और रूपांबरा जैसे काव्य-संकलनों का भी। वे वत्सलनिधि से प्रकाशित आधा दर्जन निबंध-संग्रहों के भी संपादक हैं। प्रख्यात साहित्यकार अज्ञेय ने यद्यपि कहानियां कम ही लिखीं और एक समय के बाद कहानी लिखना बिलकुल बंद कर दिया, परंतु हिन्दी कहानी को आधुनिकता की दिशा में एक नया और स्थायी मोड़ देने का श्रेय भी उन्हीं को प्राप्त है। निस्संदेह वे आधुनिक साहित्य के एक श्लाका-पुरुष थे जिसने हिंदी साहित्य में भारतेंदु के बाद एक दूसरे आधुनिक युग का प्रवर्तन किया।

अज्ञेय रचनावली

अज्ञेय रचनावली के 18 खंडों में उनकी समस्त रचनाओं को संग्रहित करने का प्रयास किया गया है। इसके संपादक कृष्णदत्त पालीवाल हैं।

'अज्ञेय' : अपनी निगाह में

कृतिकार की निगाह नहीं होती, यह तो नहीं कहूँगा। पर यह असंदिग्ध है कि वह निगाह एक नहीं होती। एक निगाह से देखना कलाकार की निगाह से देखना नहीं है। स्थिर, परिवर्तनहीन दृष्टि सिद्धांतवादी की हो सकती है, सुधारक-प्रचारक की हो सकती है और- भारतीय विश्वविद्यालयों के संदर्भ में-अध्यापक की भी हो सकती है, पर वैसी दृष्टि रचनाशील प्रतिभा की दृष्टि नहीं है।

'अज्ञेय' : अपनी निगाह में इस शीर्षक के नीचे यहाँ जो कुछ कहा जा रहा है उसे इसलिए ज्यों-का-त्यों स्वीकार नहीं किया जा सकता। वह स्थिर उत्तर नहीं है। यह भी हो सकता है कि उसके छपते-छपते उससे भिन्न कुछ कहना उचित और सही जान पड़ने लगे। चालू मुहावरे में कहा जाए कि यह केवल आज का, इस समय का कोटेशन है। कल को अगर बदला जाए तो यह न समझना होगा कि अपनी बात का खंडन किया जा रहा है, केवल यही समझना होगा कि वह कल का कोटेशन है, जो कि आज से भिन्न है।

फिर यह भी है कि कलाकार की निगाह अपने पर टिकती भी नहीं। क्यों टिके? दुनिया में इतना कुछ देखने को पड़ा है– 'क्षण-क्षण परिवर्तित प्रकृतिवेश' जिसे 'उसने आँख भर देखा।' इसे देखने से उसको इतना अवकाश कहाँ कि वह निगाह अपनी ओर मोड़े। वह तो जितना कुछ देखता है उससे भी आगे बढ़ने की विवशता में देता है 'मन को दिलासा, पुनः आऊँगा-भले ही बरस दिन अनगिन युगों के बाद!'

कलाकार की निगाह, अगर वह निगाह है और कलाकार की है तो, सर्वदा सब-कुछ की ओर लगी रहती है। अपने पर टिकने का अवकाश उसे नहीं रहता। निरूसंदेह ऐसे बहुत-से कलाकार पड़े हैं, जिन्होंने अपने को देखा है, अपने बारे में लिखा है। अपने बारे में लिखना तो आजकल का एक रोग है। बल्कि यह रोग इतना व्यापक है कि जिसे यह नहीं है वही मानो बेचैन हो उठता है कि मैं कहीं अस्वस्थ तो नहीं हूँ? लेखकों में कई ऐसे भी हैं जिन्होंने केवल अपने बारे में लिखा है-जिन्होंने अपने सिवा कुछ देखा ही नहीं है। लेकिन सरसरी तौर पर अपने बारे में लिखा हुआ सब-कुछ एक ही मानदंड से नहीं नापा जा सकता, उसमें कई कोटियाँ हैं। क्योंकि देखने वाली निगाह भी कई कोटियों की हैं। आत्म-चर्चा करने वाले कुछ लोग तो ऐसे हैं कि निज की निगाह कलाकार की नहीं, व्यवसायी की निगाह है। यों आजकल सभी कलाकार न्यूनाधिक मात्रा में व्यवसायी हैं। आत्म-चर्चा आत्म-पोषण का साधन है इसलिए आत्म-रक्षा का एक रूप है। कुछ ऐसे भी होंगे जो कलाकार तो हैं, लेकिन वास्तव में आत्म-मुग्ध हैं-नार्सिसस-गोत्रीय कलाकार! लेकिन अपने बारे में लिखनेवालों में एक वर्ग ऐसों का भी है, जो कि वास्तव में अपने बारे में नहीं लिखते हैं-अपने को माध्यम बनाकर संसार के बारे में लिखते हैं। इस कोटि के कलाकार की जागरूकता का ही एक पक्ष यह है कि यह निरंतर अपने देखने को ही देखता चलता है, अनवरत अपने संवेदन के खरेपन की कसौटी करता चलता है। जिस भाव-यंत्र के सहारे

वह दुनिया पर और दुनिया उस पर घटित होती रहती है, उस यंत्र की ग्रहणशीलता का वह बराबर परीक्षण करता रहता है। भाव-यंत्र का ऐसा परीक्षण एक सीमा तक किसी भी युग में आवश्यक रहा होगा, लेकिन आज के युग में वह एक अनिवार्य कर्त्तव्य हो गया है।

तो अपनी निगाह में अज्ञेय। यानी आज का अज्ञेय ही। लिखने के समय की निगाह में वह लिखता हुआ अज्ञेय। बस इतना ही और उतने समय का ही।

अज्ञेय बड़ा संकोची और समाजभीरु है। इसके दो पक्ष हैं। समाजभीरु तो इतना है कि कभी-कभी दुकान में कुछ चीजें खरीदने के लिए घुसकर भी उलटे-पाँव लौट आता है क्योंकि खरीददारी के लिए दुकानदार से बातें करनी पडेंगी। लेकिन एक दूसरा पक्ष भी है जिसके मूल में निजीपन की तीव्र भावना है, वह जिसे अँग्रेजी में सेंस ऑफ प्राइवेसी कहते हैं। किन चीजों को अपने तक, या अपनों तक ही सीमित रखना चाहिए, इसके बारे में अज्ञेय की सबसे बड़ी स्पष्ट और दृढ़ धारणाएँ हैं। और इनमें से बहुत-सी लोगों की साधारण मान्यताओं से भिन्न हैं। यह भेद एक हद तक तो अँग्रेजी साहित्य के परिचय की राह से समझा जा सकता है। उस साहित्य में इसे चारित्रिक गुण माना गया है। मनोवेगों को अधिक मुखर न होने दिया जाए, निजी अनुभूतियों के निजीपन को अक्षुण्ण रखा जाए– 'प्राइवेट फेसेज इन पब्लिक प्लेसेज'। लेकिन इस निरोध अथवा संयमन के अलावा भी कुछ बातें हैं। एक सीमा है जिसके आगे अज्ञेय अस्पृश्य रहना ही पसंद करता है। जैसे कि एक सीमा से आगे वह दूसरों के जीवन में प्रवेश या हस्तक्षेप नहीं करता है। इस तरह का अधिकार वह बहुत थोड़े लोगों से चाहता है और बहुत थोड़े लोगों को देता है। जिन्हें देता है उन्हें अबाध रूप से देता है, जिनसे चाहता है उनसे उतने ही निर्बाध भाव से चाहता है। लेकिन जैसा कि पहले कहा गया है, ऐसे लोगों की परिधि बहुत कड़ी है।

इससे गलतफहमी जरूर होती है। बहुत-से लोग बहुत नाराज भी हो जाते हैं। कुछ को इसमें मनहूसियत की झलक मिलती है, कुछ अहमन्यता पाते हैं, कुछ आभिजात्य का दर्प, कुछ और कुछ। कुछ की समझ में यह निरा आडंबर है और भीतर के 'शून्य को छिपाता है जैसे प्याज का छिलका पर छिलका। मैं साक्षी हूँ कि अज्ञेय को इन सब प्रतिक्रियाओं से अत्यंत क्लेश होता है। लेकिन एक तो यह क्लेश भी निजी है। दूसरे इसके लिए वह अपना स्वभाव बदलने का यत्न नहीं करता, न करना चाहता है। सभी को कुछ-कुछ और कुछ को सब-कुछ-वह मानता है उसके लिए आत्म-दान की परिपाटी यही हो सकती है।

सिद्धांतत: वह स्वीकार करेगा कि 'सभी को सब-कुछ' का आदर्श इससे अधिक ऊँचा है। पर वह आदर्श सन्यासी का ही हो सकता है। या कम-से-कम निजी जीवन में कलाकार का तो नहीं हो सकता। बहुत-से कलाकार उससे भी छोटा दायरा बना लेते हैं जितना कि अज्ञेय का है और कोई-कोई तो 'कुछ को कुछ, बाकी अपने को सब-कुछ' के ही आदर्श पर चलते हैं। ऐसा कोई न बचे जिसे उसने अपना कुछ नहीं दिया हो, इसके लिए अज्ञेय बराबर यत्नशील है। लेकिन सभी के लिए वह सब-कुछ दे रहा है, ऐसा दावा वह नहीं करता और इस दंभ से अपने को बचाये रखना चाहता है।

अज्ञेय का जन्म खँडहरों में शिविर में हुआ था। उसका बचपन भी वनों और पर्वतों में बिखरे हुए महत्त्वपूर्ण पुरातत्त्वावशेषों के मध्य में बीता। इन्हीं के बीच उसने प्रारंभिक शिक्षा पायी। वह भी पहले संस्कृत में, फिर फारसी और फिर अँग्रेजी में। और इस अवधि में वह सर्वदा अपने पुरातत्त्वज्ञ पिता के साथ और बीच-बीच में बाकी परिवार से-माता और भाइयों से-अलग, रहता रहा। खुदाई में लगे हुए पुरातत्त्वान्वेषी पिता के साथ रहने का मतलब था अधिकतर अकेला ही रहना। और अज्ञेय बहुत बचपन से एकांत का अभ्यासी है और बहुत कम चीजों से उसको इतनी अकुलाहट होती है जितनी लगातार लंबी अवधि तक इसमें व्याघात पड़ने से। जेल में अपने सहकर्मियों के दिन-रात के अनिवार्य साहचर्य से त्रस्त होकर उसने स्वयं काल-कोठरी की माँग की थी और महीनों उसमें रहता रहा। एकांतजीवी होने के कारण देश और काल के आयाम का उसका बोध कुछ अलग ढंग का है। उसके लिए सचमुच 'कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।' वह घंटों निश्चल बैठा रहता है, इतना निश्चल कि चिड़ियाँ उसके कंधों पर बैठ जाएँ या कि गिलहरियाँ उसकी टाँगों पर से फाँदती हुई चली जाएँ। पशु-पक्षी और बच्चे उससे बड़ी जल्दी हिल जाते हैं। बड़ों को अज्ञेय के निकट आना भले ही कठिन जान पड़े, बच्चों का विश्वास और सौहार्द उसे तुरत मिलता है। पशु उसने गिलहरी के बच्चे से तेंदुए के बच्चे तक पाले हैं, पक्षी बुलबुल से मोर-चकोर तक। बंदी इनमें से दो-चार दिन से अधिक किसी को नहीं रखा। उसकी निश्चलता ही उन्हें आश्वस्त कर देती है। लेकिन गति का उसके लिए दुर्दात आकर्षण है। निरी अंध गति का नहीं, जैसे तेज मोटर या हवाई जहाज की, यद्यपि मोटर वह काफी तेज रफ्तार से चला लेता है। (पहले शौक था, अब केवल आवश्यकता पड़ने पर चला लेने की कुशलता है, शौक नहीं है।) आकर्षण है एक तरह की ऐसी लय-युक्ति गति का-जैसे घुड़दौड़ के घोड़े की गति, हिरन

की फलाँग या अच्छे तैराक का अंग-संचालन, या शिकारी पक्षी के झपट्टे की या सागर की लहरों की गति। उसके लेखन में, विशेष रूप से कविता में, यह आकर्षण मुखर है। पर जीवन में भी उतना ही प्रभावशाली है। एक बार बचपन में अपने भाइयों को तैरते हुए देखकर वह उनके अंग-संचालन से इतना मुग्ध हो उठा कि तैरना न जानते हुए भी पानी में कूद पड़ा और डूबते-डूबते बचा-यानी मूर्छितावस्था में निकाला गया। लय-युक्त गति के साथ-साथ, उगने या बढ़नेवाली हर चीज में, उसके विकास की बारीक-से-बारीक क्रिया में, अज्ञेय को बेहद दिलचस्पी है। वे चीजें छोटी हों या बड़ी, च्यूँटी और पक्षी हों या वृक्ष और हाथी, मानव-शिशु हो या नगर और कस्बे का समाज। वनस्पतियों और पशु-पक्षियों का विकास तो केवल देखा ही जा सकता हैय शहरी मानव और उसके समाज की गतिविधियों से पहले कभी-कभी बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया होती थी-क्षोभ और क्रोध होता थाय अब धीरे-धीरे समझ में आने लगा है कि ऐसी राजस प्रतिक्रियाएँ देखने में थोड़ी बाधा जरूर होती है। अब आक्रोश को वश करके उन गतिविधियों को ठीक-ठीक समझने और उनको निर्माणशील लीकों पर डालने का उपाय खोजने का मन होता है। पहले विद्रोह था जो विषयीगत था-'सब्जेक्टिव' था। अब प्रवृत्ति है, जो किसी हद तक असम्पृक्त बुद्धि से प्रेरित है। एक हद तक जरूर प्रवृत्ति के साथ एक प्रकार की अंतर्मुखीनता आई है। समाज को बदलने चलने से पहले अज्ञेय बार-बार अपने को जाँचता है कि कहाँ तक उसके विश्वास और उसके कर्म में सामंजस्य है-या कि कहाँ नहीं है। यह भी जोड़ दिया जा सकता है कि वह इस बारे में भी सतर्क रहता है कि उसके निजी विश्वासों में और सार्वजनिक रूप से घोषित (पब्लिक) आदर्श में भेद तो नहीं है? धारणा और कर्म में सौ प्रतिशत सामंजस्य तो सिद्धों को मिलता है। उतना भाग्यवान न होकर भी अज्ञेय अंतर्विरोध की भठी पर नहीं बैठा है और इस कारण अपने भीतर एक शांति और आत्मबल का अनुभव करता है। शांति और आत्म-बल आज के युग में शायद विलास की वस्तुएँ हैं। इसलिए इस कारण से अज्ञेय हिंदी भाइयों और विशेष रूप से हिंदीवाले भाइयों से कुछ और अलग पड़ जाता है और कुछ और अकेला हो जाता है।

यहाँ यह भी स्वीकार कर लिया जाए कि यहाँ शायद सच्चाई को अधिक सरल करके सामने रखा गया है, उतनी सरल वास्तविकता नहीं है। एक साथ ही चरम निश्चलता का और चरम गतिमयता का आकर्षण अज्ञेय की चेतना के अंतर्विरोध का सूचक है। पहाड़ उसे अधिक प्रिय है या सागर, इसका उत्तर

वह नहीं दे पाया है, स्वयं अपने को भी। वह सर्वदा हिमालय के हिमशिखरों की ओर उन्मुख कुटीर में रहने की कल्पना किया करता है और जब-तब उधर कदम भी बढ़ा लेता है, पर दूसरी ओर वह भागता है बराबर सागर की ओर, उसके उद्वेलन से एकतानता का अनुभव करता है। शांत सागर-तल उसे विशेष नहीं मोहता-चट्टानों पर लहरों का घात-प्रतिघात ही उसे मुग्ध करता है। सागर में वह दो बार डूब चुका है, चट्टानों की ओट से सागर-लहर को देखने के लोभ में वह कई बार फिसलकर गिरा है और दैवात् ही बच गया है। पर मन:स्थिति ज्यों-की-त्यों है। वह हिमालय के पास रहना चाहता है पर सागर के गर्जन से दूर भी नहीं रहना चाहता! कभी हँसकर कह देता है। "मेरी कठिनाई यही है कि भारत का सागर-तट सपाट दक्षिण में है-कहीं पहाड़ी तट होता तो-!"

क्योंकि इस अंतर्विरोध का हल नहीं हुआ है, इसलिए वह अभी स्वयं निश्चयपूर्वक नहीं जानता है कि वह अंत में कहाँ जा टिकेगा। दिल्ली या कोई भी शहर तो वह विश्रामस्थल नहीं होगा, यह वह ध्रुव मानता है। पर वह कूर्मांचल हिमालय में होगा, कि कुमारी अंतरीप के पास (जहाँ चट्टानें तो हैं!), या समझौते के रूप में विंध्य के अंचल की कोई वनखंडी जहाँ नदी-नाले का मर्मर ही हर समय सुनने को मिलता रहे-इसका उत्तर उसे नहीं मिला। उत्तर की कमी कई बार एक अशांति के रूप में प्रकट हो जाती है। वह 'कहीं जाने के लिए' बैचेन हो उठता है। (मुक्तिबोध का 'माइग्रेशन इन्स्टिंक्ट'?) कभी इसकी सूरत निकल आती है, कभी नहीं निकलती तो वह घर ही का सब सामान उलट-पुलटकर उसे नया रूप दे देता है। बैठक को शयनकक्ष, शयनकक्ष को पाठागार, पाठागार को बैठक इत्यादि। उससे कुछ दिन लगता है कि मानो नए स्थान में आ गए-फिर वह पुराना होने लगता है तो फिर सब बदल दिया जाता है! इसीलिए घर का फर्नीचर भी अज्ञेय अपने डिजाइन का बनवाता है। ये जो तीन चौकियाँ हैं न, इन्हें यों जोड़ दिया जाए तो पलंग बन जाएगा, ये जो दो डेस्क-सी दीखती हैं, एक को घुमाकर दूसरे से पीठ जोड़ दीजिए, भोजन की मेज बन जाएगी यदि आप फर्श पर नहीं बैठ सकते। वह जो पलंग दीखता है, उसका पल्ला उठा दीजिए-नीचे वह संदूक है। या उसे एक सिरे पर खड़ा कर दीजिए तो वह आलमारी का काम दे जाएगा! दीवार पर शरद् ऋतु के चित्र हैं न? सबको उलट दीजिए। अब सब चित्र वसंत के अनुकूल हो गए-अब बिछावन भी उठाकर शीतलपाटियाँ डाल दीजिए और सभी चीजों का ताल-मेल हो गया...।

पुरातत्त्ववेत्ता की छाया में अकेले रहने का एक लाभ अज्ञेय को और भी हुआ है। चाहे विरोधी के रूप में चाहे पालक के रूप में, वह बराबर परंपरा के संपर्क में रहा है। रूढ़ि और परंपरा अलग-अलग चीजें हैं, यह उसने समझ लिया है। रूढ़ि वह तोड़ता है और तोड़ने के लिए हमेशा तैयार है। लेकिन परंपरा तोड़ी नहीं जाती, बदली जाती है या आगे बढ़ाई जाती है, ऐसा वह मानता है, और इसी के लिए यत्नशील है। कहना सही होगा कि वह मर्यादावान विद्रोही है। फिर इस बात को चाहे आप प्रशंसा से कह लीजिए चाहे व्यंग्य और विद्रूप से।

एक ओर एकांत, और दूसरे में एकांत का निरंतर बदलता हुआ परिवेश-कभी कश्मीर की उपत्यकाएँ, कभी बिहार के देहात, कभी कोटागिरि-नीलगिरि के आदिम जातियों के गाँव, कभी मेरठ के खादर और कभी असम और पूर्वी सीमांत के वन-प्रदेश-इस अनवरत बदलते हुए परिवेश ने अकेले अज्ञेय के आत्म-निर्भरता का पाठ बराबर दुहरवाया है। इस कारण वह जितना जैसा जिया है अधिक सघनता और तीव्रता से जिया है। 'रूप-रस-गंध-गान'-सभी की प्रतिक्रियाएँ उसमें अधिक गहरी हुई हैं। सिद्धांततः भी वह मानता है कि कवि या कलाकार ऐंद्रिय चेतना की उपेक्षा नहीं कर सकता। और परिस्थितियों ने उसे इसकी शिक्षा भी दी है कि ऐंद्रिय संवेदन को कुंद न होने दिया जाए। यह यों ही नहीं कि आँख, कान, नाक आदि को 'ज्ञानेंद्रियाँ' कहा जाता है। ये वास्तव में खिड़कियाँ हैं जिनमें से व्यक्ति जगत को देखता और पहचानता है। इनके संवेदन को अस्वीकार करना संन्यास या वैराग्य का अंग नहीं है। वह पंथ आसक्ति को छोड़ता है यानी इन संवेदनों से बँध नहीं जाता, यह नहीं है कि इनका उपयोग ही वह छोड़ देता है। जब अज्ञेय को ऐसे लोग मिलते हैं, जो गर्व से कहते हैं कि 'हमें तो खाने में स्वाद का पता ही नहीं रहता-हम तो यह भी लक्ष्य नहीं करते कि दाल में नमक कम है या ज्यादा,' तो अज्ञेय को हँसी आती है। क्योंकि यह वह अस्वाद नहीं जिसे आदर्श माना गया, यह केवल एक विशेष प्रकार की पंगुता है। इसमें और इस बात पर गर्व करने में कि 'मुझे तो यह भी नहीं दिखता कि दिन है या रात,' कोई अंतर नहीं है। अगर अन्धापन या बहरापन 'लाघ्य' नहीं है तो जीभ का या त्वचा का अपस्मार ही क्यों 'लाघ्य' है? ज्ञानेंद्रियों की सजगता अज्ञेय की कृतियों में प्रतिलक्षित होती है और वह मानता है होनी भी चाहिए। कम या ज्यादा नमक होने पर भी दाल खा लेना एक बात है, और इसको नहीं पहचानना बिलकुल दूसरी बात है।

अज्ञेय मानता है कि बुद्धि से जो काम किया जाता है उसकी नींव हाथों से किये गए काम पर है। जो लोग अपने हाथों का सही उपयोग नहीं करते उनकी

मानसिक सृष्टि में भी कुछ विकृति या एकांगिता आ जाती है। यह बात काव्य-रचना पर विशेष रूप से लागू है क्योंकि अन्य सब कलाओं के साथ कोई-न-कोई शिल्प बँधा है, यानी अन्य सभी कलाएँ हाथों का भी कुछ कौशल माँगती हैं। एक काव्य-कला ही ऐसी है कि 'शुद्ध मानसिक कला है। प्राचीन काल में शायद इसीलिए कवि-कर्म को कला नहीं गिना जाता था। अज्ञेय प्रायः ही हाथ से कुछ-न-कुछ बनाता रहता है और बीच-बीच में कभी तो मानसिक रचना को बिलकुल स्थगित करके केवल शिल्प-वस्तुओं के निर्माण में लग जाता है। बढ़ईगिरी और बागवानी का उसे खास शौक है। लेकिन और भी बहुत-सी दस्तकारियों में थोड़ी-बहुत कुशलता उसने प्राप्त की है और इनका भी उपयोग जब-तब करता रहता है। अपने काम के देशी काट के कपड़े भी वह सी लेता है और चमड़े का काम भी कर लेता है। थोड़ी-बहुत चित्रकारी और मूर्तिकारी वह करता है। फोटोग्राफी का शौक भी उसे बराबर रहा है और बीच-बीच में प्रबल हो उठता है।

हाथों से चीजें बनाने के कौशल का प्रभाव जरूरी तौर पर साहित्य-रचना पर भी पड़ता है। अज्ञेय प्रायः मित्रों से कहा करता है कि अपने हाथ से लिखने और शीघ्रलेखक को लिखाने में एक अंतर यह है कि अपने हाथ से लिखने में जो बात बीस शब्दों में कही जाती, लिखाते समय उसमें पचास शब्द या सौ शब्द भी सर्फ कर दिए जाते हैं! मितव्यय कला का एक स्वाभाविक धर्म है। रंग का, रेखा का, मिट्टी या शब्द का अपव्यय भारी दोष है। अपने हाथ से लिखने में परिश्रम किफायत की ओर सहज ही जाता है। लिखाने में इसमें चूक भी हो सकती है। विविध प्रकार के शिल्प के अभ्यास से मितव्यय का-किसी भी इष्ट की प्राप्ति में कम-से-कम श्रम का-सिद्धांत सहज-स्वाभाविक बन जाता है। भाषा के क्षेत्र में इससे नपी-तुली, सुलझी हुई बात कहने की क्षमता बढ़ती है, तर्क-पद्धति व्यवस्थित, सुचिंतित और क्रमसंगत होती है। अज्ञेय इन सबको साहित्य के बड़े गुण मानता है और बराबर यत्नशील रहता है कि उसका लेखन इस आदर्श से स्खलित न हो।

दूसरे की बात को वह ध्यान से और धैर्य से सुनता है। दूसरे के दृष्टिकोण का, दूसरे की सुविधा का, दूसरे और प्रिय-अप्रिय का वह बहुत ध्यान रखता है-कभी-कभी जरूरत से ज्यादा। नेता के गुणों में एक यह भी होता है कि अपने दृष्टिकोण को अपने पर इतना हावी हो जाने दे कि दूसरे के दृष्टिकोण की अनदेखी भी कर सके। निरंतर दूसरे के दृष्टिकोण को देखते रहना नेतृत्व कर्म

में बाधक भी हो सकता है। इसलिए नेतृत्व करना अज्ञेय के वश का नहीं है। वह सही मार्ग पहचानकर और उसका इंगित देकर भी फिर एक तरफ हट जाएगा, क्योंकि 'दूसरों का दृष्टिकोण दूसरा है' और वह उस दृष्टिकोण को भी समझ सकता है!

'मार-मारकर हकीम' न बनाने की इस प्रवृत्ति के कारण अज्ञेय को विश्वास बहुत लोगों का मिला है। मित्र उसके कम रहे हैं, पर अपनी समस्याएँ लेकर बहुत लोग उसके पास आते हैं, ऐसे लोगों को खुलकर बात करने में कभी कठिनाई नहीं होती। सभी की सहायता की जा सके ऐसे साधन किसके पास हैं—पर धीरज और सहानुभूति से सुनना भी एक सहायता है, जो हर कोई दे सकता है। (पर देता नहीं)।

लेकिन इस धीरज के साथ-साथ अव्यवस्थित चिंतन के प्रति उसमें एक तीव्र असहिष्णुता भी है। चिंतन के क्षेत्र में किसी तरह का भी लबड़धोंधोंपन उसे सख्त नापसंद है और इस नापसंदगी को प्रकट करने में वह संकोच नहीं करता। इसीलिए उसके मित्र बहुत कम हैं। हिंदीवालों में और भी कम, क्योंकि हिंदी साहित्यकार का चिंतन भारतीय साहित्यकारों में अपेक्षया अधिक ढुलमुल होता है। साहित्यकार ही क्यों, हिंदी के आलोचकों और अध्यापकों का सोचने का ढंग भी एक नमूना है।

अज्ञेय हिंदी के हाथी का दिखाने का दाँत है। कभी-कभी उसको इस पर आश्चर्य भी होता है और खीझ भी। क्योंकि वह अनुभव करता है कि हिंदी के प्रति उसकी आस्था अनेक प्रतिष्ठित हिंदीवालों से अधिक है और साथ ही यह भी कि वह बड़ी गहराई में और बड़ी निष्ठा के साथ भारतीय है। यानी वह खाने के दाँतों की अपेक्षा हिंदी के हाथी का अधिक अपना है। यों तो खैर, दाँत ही हाथी का हो सकता है, कोई जरूरी नहीं है कि हाथी भी दाँत का हो। लेकिन शायद ऐसा सोचना भी अज्ञेय की दुर्बलता है-यह भी 'दूसरे के दृष्टिकोण को देखना' है। वह अपने को हिंदी का मानकर चलता है जब कि आर्थोडाक्स हिंदीवाला हिंदी को अपनी मानता ही नहीं वैसा दावा भी करता है रू अज्ञेय अपने को भारत का मानता है जबकि आर्थोडाक्स भारतीय देश को अपना मानता है। हिंदी के एक बुजुर्ग ने कहा था, 'विदेशों में हिंदी पढ़ाने के लिए तो अज्ञेय बहुत ही उपयुक्त है, बल्कि इससे योग्यतर व्यक्ति नहीं मिलेगा, लेकिन भारतीय विश्वविद्यालयों में-' और यहाँ उनका स्वर एकाएक बिलकुल बदल गया था-'और हिंदी क्षेत्र में-देखिए, हिंदी क्षेत्र में हिंदी साहित्य पढ़ाने के लिए तो

दूसरे प्रकार की योग्यता चाहिए।' इस कथन के पीछे जो प्रतिज्ञाएँ हैं उनसे अज्ञेय को अपना क्लेश होता है। लेकिन–और इसे उसका अतिरिक्त दुर्भाग्य समझिए–इस दृष्टिकोण को वह समझ भी सकता है। पिछले दस–बारह वर्षों के उसके कार्य की जड़ में यही उभयनिष्ठ भाव लक्षित होता है। यह दिखाने का दाँत चालानी माल (एक्सपोर्ट कमॉडिटी) के रूप में बराबर रहता रहा है, लेकिन हर बार इसलिए लौट आया है कि अंततोगत्वा वह भारतीय है, भारत का है और भारत में ही रहेगा।

यह समस्या अभी उसके साथ है और शायद अभी कुछ वर्षों तक रहेगी। बचपन में उसके भविष्य के विषय में जिज्ञासा करने पर उसके माता–पिता को एक ज्योतिषी ने बताया था कि 'इस जातक के शत्रु अनेक होंगे लेकिन हानि केवल बंधुजन ही पहुँचा सकेंगे।' अज्ञेय नियतिवादी नहीं है, लेकिन स्वीकार करता है कि चरित्र की कुछ विशेषताएँ जरूर ऐसी होती हैं, जो व्यक्ति के भविष्य का निर्माण करती हैं। इसलिए शायद श्यह नहीं है शाप। यह अपनी नियति है कि अनेक शत्रुओं के रहते हुए भी अज्ञेय वध्य है तो केवल अपने बंधुओं द्वारा। ऐसा ही अच्छा है। उसी ज्योतिषी ने यह भी बताया था कि 'इस जातक के पास कभी कुछ जमा–जत्था नहीं होगा, लेकिन साथ ही जरूरी खर्चे की कभी तंगी भी नहीं होगी– यह या तो फकीर होगा या राजा।श' और फिर कुछ रुककर, शायद फकीरी की आशंका के बारे में माता–पिता को आश्वस्त करने के लिए, और 'सत्यं ब्रुयात् प्रियं ब्रुयात' को ध्यान में रखकर, उसने एक वाक्य और जोड़ दिया था जिसकी व्यंजनाएँ अनेक हैं– 'यह असल में तबीयत का बादशाह होगा।'

जी हाँ, तबीयत के अलावा और कोई बादशाहत अज्ञेय को नहीं मिली है। लेकिन यह बनी रहे तो दूसरी किसी की आकांक्षा भी उसे नहीं है।

ऋण–स्वीकारी हूँ

यों तो किसी भी युग में कवि का बहुश्रुत होना आवश्यक माना जाता रहा है, पर आधुनिक काल में कोई विरला ही भाग्यवान होगा जिसने जो कुछ पाया है केवल एक ही भाषा के माध्यम से पाया हो, फिर वह भाषा चाहे देव–भाषा ही क्यों न हो। मैं ऐसे भाग्यवानों में नहीं हूँ। बल्कि ऐसा अबोध भी हूँ कि नाना भारतीय और अभारतीय भाषाओं से जो कुछ प्रेरणा मैंने पायी है उसे सहर्ष स्वीकार भी करता हूँ। मेरा साहित्य का अध्ययन बहुत नियमित नहीं रहा, किसी पद्धति के अनुसार नहीं चला, कुल मिलाकर इसे मैं अपना सौभाग्य ही मानता हूँ, यद्यपि इससे कुछ कवियों

से मेरा उतना, या वैसा, या उतना पुराना परिचय नहीं हो पाया जितना होना चाहिए। हर कवि की रचना में 'मौलिक' और 'परंपरा-प्राप्त' का मिश्रण-या कह लीजिए समन्वय-रहता ही है, पर परंपरा से मैंने जो ग्रहण किया वह क्योंकि समकालीन अनेक कवियों से कुछ भिन्न रहा, इसलिए उसका प्रभाव भी कुछ भिन्न पड़ा। फलतः दूसरों का अवदान भी एक मौलिकता के रूप में प्रकट हुआ- यह दूसरी बात है कि कुछ लोगों को यह रुची तो कुछ ने भर पेट गालियाँ भी दीं।

संस्कृतज्ञ पिता के प्रभाव से मेरी शिक्षा पहले संस्कृत से आरंभ हुई, वह भी पुराने ढंग से-यानी 'अष्टाध्यायी' रटकर। पक्का नहीं कह सकता, लेकिन मेरा ख्याल है कि यह रटंत अक्षर-ज्ञान से भी पहले शुरू हो गई थी। जो हो, सबसे पहले और पुराने काव्य-प्रभावों का स्मरण करने लगूँ तो संस्कृत 'लोकों की ध्वनियाँ ही मन में गूँज जाती हैं, 'शिव महिम्नस्रोत' का मंद्र गंभीर शिखरिणी छंद, पिता के भारी और ओजस्वी कंठ-स्वर में गाये हुए 'शार्दूलविक्रीडित' के छंद, जिनमें कुछ उन्होंने मुझे भी कंठस्थ कराये थे और जो अभी तक अविस्मृत हैं, जैसे सरस्वती वंदना का श्लोक

या कुंदेंदु-तुषार-हार-धवला, या श्वेत वस्त्रावृता

तुलसी की शिव-वंदना का

वामांके च विभाति भूधर-सुता देवापगा मस्तके
भाले बालविधुर्गले च गरलं यस्योरसि व्यालराट्

और राम-वंदना का

शांतं शाश्वतमप्रमेयमनघं निर्वाण-शांतिप्रदम्।
ब्रह्मा-शंभु-फणींद्र सेव्यमनिशं वेदांत वेद्यं विभुम्।

तब नहीं जानता था कि यह श्लोक कहाँ का या किसका है, 'रामायण' को मैं उसके एकश्लोकी रूप में जानता था। वाल्मीकि रामायण का बालकांड और अयोध्याकांड पिता से बाद में पढ़ा था, पर तुलसीदास रामायण तो बहुत पीछे तब पढ़ी, जब अपनी शिक्षा की त्रुटियाँ पूरी करने का व्यवस्थित प्रयत्न करने लगा।

असल में पिताजी का विश्वास था- उस काल में बहुत-से लोग ऐसा मानते थे- कि पढ़ना हो तो संस्कृत-फारसी पढ़े, हिंदी का क्या है, वह तो अपने-आप आ जाएगी। आज मैं यह तो न मानूँगा कि हिंदी विधिवत् पढ़े बिना आ जाती है, पर यह मानता हूँ कि उसे ठीक जानने के लिए संस्कृत और फारसी दोनों जानना और उर्दू से परिचित होना आवश्यक है।

मैं वाल्मीकि के बाद कालिदास और राजा भोज की गाथाओं के द्वारा कालिदास के और कुछ अन्य संस्कृत कवियों के नामों से थोड़ा-बहुत परिचित होने ही लगा था कि सादी और हाफिज के नामों से भी परिचित हो गया, और फारसी के शेर तो नहीं पर कहावतें मुझे याद हो गईं।

और इसके बाद ही अँग्रेजी की बारी आई। यद्यपि इसके बाद तो लगातार ही तीन-चार भाषाओं के प्रभाव साथ-साथ चलते रहे-और अभी तक मैं जितना हिंदी काव्य पढ़ता हूँ कम-से-कम उतना ही हिंदीतर भाषाओं का भी-पर उस समय तो एकदम ही अँग्रेजी साहित्य में डूब गया। लांगफेलो और टेनिसन से शुरू किया- उस वय में प्रायः इन्हीं से तो आरंभ होता है!-पर प्रभाव टेनिसन का ही अधिक और स्थायी हुआ। मेरा पढ़ना एक-साथ ही व्यवस्थित और अव्यवस्थित दोनों होता था- यानी किसके बाद कौन कवि पढ़ूँ यह तो नहीं सोचता था, पर जिस कवि को पढ़ता था उसकी संपूर्ण कृतियाँ लेकर एक सिरे से दूसरे सिरे तक पढ़ जाता था! टेनिसन ऐसे कई बार पढ़ा, उसके प्रभाव में अँग्रेजी में लिखना भी शुरू किया। अभी मेरे पास कुछ कापियाँ पड़ी हैं जिन्हें देखकर अब हँस सकता हूँ। टेनिसन के अतुकांत छंदों की, एक शैली की, और एक सीमा तक उसके मानसिक झुकाव की ऐसी नकल अब यत्न करके भी नहीं कर सकता! लेकिन धीरे-धीरे परख बढ़ी, तब टेनिसन का बहुत-सा अंश छोड़ा और उसके प्रगीत ही मन में बसे रह गए-इनका सौंदर्य आज भी स्मरण होते ही अभिभूत कर लेता है।

ब्रेक, ब्रेक, ब्रेक
ऑन दाइ कोल्ड ग्रे स्टोन्स, ओ सी,
अथवा
आस्क मी नो मोर
की कोटि के प्रगीत कम ही मिलते हैं।

अँग्रेजी में तो इसके बाद ही रवींद्रनाथ ठाकुर से परिचित हुआ (मूल बांग्ला में ठाकुर पढ़ना बहुत पीछे की बात है)। ब्राउनिंग के ओज-भरे आशावाद और ठाकुर के आशा-भरे रहस्यवाद के सम्मिश्रण ने मेरे नए विकसते मन पर क्या प्रभाव डाला, यह सोचा जा सकता है। पर अँग्रेजी की परंपरा यहाँ सहसा टूटी। हिंदी में पढ़ा-

तेरे घर के द्वार बहुत हैं किससे होकर आऊँ मैं?
और

नीलांबर परिधान हरित पट पर सुंदर है
सूर्य-चंद्र युग-मुकुट मेखला रत्नाकर है।
... ...
करते अभिषेक पयोद हैं बलिहारी इस वेश की।
हे मातृभूमि! तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की!

और सहसा एक नई आत्मीयता मिली- वह काव्यत्व में उतनी नहीं जितनी अपनी भाषा में- मानो सहसा अपना प्रतिबिंब दीख गया, और साथ ही यह भी दीख गया कि प्रतिबिंब दीखने के लिए आकाश नहीं चाहिए, पानी की बूँद में भी वह दीख जाता है।..उसके बाद तो मैथिलीशरण गुप्त की जो रचना मिली पढ़ ही न ली बल्कि कापी में उतार ली-आरंभिक काल की सरस्वती से कितनी कविताएँ ऐसे नकल की होंगी! उसके बाद ही हिंदी में कुछ तुकबंदी करना शुरू किया—अँग्रेजी में जहाँ कल्पना या भावना को लेकर चलता था, हिंदी में वर्णनात्मक ही पहले लिखा। वह मेरी प्रकृति के अनुकूल नहीं है, और मेरी ओर से वर्णनात्मक या इतिवृत्तात्मक कुछ कभी सामने नहीं आया है।एक खंडकाव्य लिखने की बरसों की साध अभी मन में ही है, फिर भी इस कारण से मैं गुप्तजी को अपना काव्य-गुरु मानता रहा- यह जानते हुए भी कि इस जानकारी से वही सबसे अधिक चौंकते!

मैथिलीशरण गुप्त के जयद्रथ-वध और भारत-भारती का नाम तो इतना अधिक लिया गया है कि उसका उल्लेख करते भी झिझक होती है। केशों की कथा भी लगभग उतनी ही प्रसिद्ध है। इनके उद्धरण नितांत अनावश्यक होंगे। पर इसी काल में और जिन कवियों ने मुझे प्रभावित किया उनका उल्लेख अवश्य करूँगा।

तुलसीदास कभी मुझे वैसे प्रिय नहीं हो सके, जैसे कुछ अन्य भक्त कवि। तुलसी में मुझे न तो हृदय को विभोर करने वाला वह गुण मिला जो सूरदास के पदों में मिलता है, और न बुद्धि को आप्यायित कर देने वाले वे तत्त्व जो कबीर के पदों में मिलते हैं। और न अटपटी तन्मयता जो मीराबाई के भजनों में है।

तुलसी के भक्त इसे मेरा दुर्भाग्य कह सकते हैं। यह भी हो सकता है कि मैं अष्टाध्यायी से आरंभ करके यूरोपीय काव्य के रास्ते मैथिलीशरण गुप्त तक न आया होता, सीधे ढंग से वृंद और रहीम और तुलसी-रामायण से आरंभ करके चला होता, तो मेरी मनोरचना भी भिन्न होती। जो हो, मैं तो उनसे ईर्ष्या करके रह जाता हूँ जो तुलसी पढ़ते-पढ़ते विभोर हो जाते हैं। मुझे कुछ स्थल अच्छे लगते

हैं, पर तुलसी से वैसी आत्मीयता नहीं होती और जो अच्छे लगते हैं उनकी भी तुलना जब वाल्मीकि के उन्हीं प्रसंगों से करता हूँ तो मन आदि-कवि की प्रतिभा से ही अभिभूत होता है। और संस्कृत में फिर कालिदास की ओर मुड़ता हूँ, जिनका रघुवंश मेरा प्रिय ग्रंथ रहा है। कालिदास ने बड़े साहस से रामायण की कथावस्तु को लेकर काव्य रचने की ठानी होगी, लेकिन रघुवंश में वह वाल्मीकि से प्रतिस्पर्धा करने से बच गए हैं, तुलना का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि राम-चरित को उन्होंने केवल एक अंश दिया है। रघुवंश के अज-विलाप अथवा कुमारसंभव के पार्वती-तपस्या जैसे प्रसंगों का समकक्ष कुछ मैंने और किस कवि और भाषा में पाया है? इस प्रश्न का उत्तर नहीं मिलता। वैसा कुछ मैंने अन्यत्र नहीं पढ़ा है।

समकालीन हिंदी काव्य का भी गहरा प्रभाव मुझ पर पढ़ा। महादेवी वर्मा की कविताएँ और प्रसाद का 'आँसू' पढ़ा तो उसमें भी वह आविष्कार का-सा भाव था, जो मैथिलीशरण गुप्त के 'स्वयमागत' से मिला था, पर यह मानो स्थायी न रहा। प्रसाद के 'आँसू' के कई अंश मुझे याद हैं, अब भी कभी अपने को उन्हें गुनगुनाते पाता हूँ–

इस करुणा-कलित हृदय में क्यों विकल रागिनी बजती
क्यों हाहाकार-स्वरों में वेदना असीम गरजती?

... ...

आती है शून्य क्षितिज से क्यों लौट प्रतिध्वनि मेरी,
टकराती बिलखाती-सी पगली-सी देती फिरी?

... ...

किंजल्क-जाल हैं बिखरे उड़ता पराग है रूखा,
क्यों स्नेह-सरोज हमारा विकसा मानस में सूखा!

लेकिन अनंतर पंत और निराला ही घनिष्ट हो गए, और निराला को तो जब-जब पढ़ता हूँ मानो नया आविष्कार करता हूँ। शब्द पर उनका अद्वितीय अधिकार है –

वर्ण चमत्कार
एक-एक शब्द बँधा ध्वनिमय साकार।
निराला से और अनेक उद्धरण देने का मोह होता है– बादल राग का
झूम-झूम मृदु गरज-गरज घन घोर!
राग अमर! अंबर में भर निज रोर।

राम की शक्तिपूजा का
रवि हुआ अस्तय ज्योति के पत्र पर लिखा अमर
रह गया राम-रावण का अपराजेय समर

... ...

विच्छुरित-वह्नि-राजीवनयन-हत-लक्ष्य-बाण,
लोहित-लोचन-रावण-मदमोचन-महीयान,
राघव-लाघव-रावण-वारण-गतयुग्म प्रहर...

गीतों की पंक्तियाँ-

सुमन भर लिए, सखि ! वसंत गया।

अथवा

स्नेह निर्झर बह गया है, मैं नहीं, कवि कह गया है।

अथवा-पर यह द्वार खोले देने पर बाढ़ रोकना कठिन हो जाएगा, संकेत करके रुक जाने में ही खैर है!

6

इलाचन्द्र जोशी

इलाचन्द्र जोशी हिन्दी में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों के आरम्भकर्ता माने जाते हैं। जोशी जी ने अधिकांश साहित्यकारों की तरह अपनी साहित्यिक यात्रा काव्य-रचना से ही आरम्भ की। पर्वतीय-जीवन विशेषकर वनस्पतियों से आच्छादित अल्मोड़ा और उसके आस-पास के पर्वत-शिखरों ने और हिमालय के जलप्रपातों एवं घाटियों ने, झीलों और नदियों ने इनकी काव्यात्मक संवेदना को सदा जागृत रखा।

प्रतिभा सम्पन्न

जोशी जी बाल्यकाल से ही प्रतिभा के धनी थे। उत्तरांचल में जन्मे होने के कारण, वहाँ के प्राकृतिक वातावरण का इनके चिन्तन पर बहुत प्रभाव पड़ा। अध्ययन में रुचि रखन वाले इलाचन्द्र जोशी ने छोटी उम्र में ही भारतीय महाकाव्यों के साथ-साथ विदेश के प्रमुख कवियों और उपन्यासकारों की रचनाओं का अध्ययन कर लिया था। औपचारिक शिक्षा में रुचि न होने के कारण इनकी स्कूली शिक्षा मैट्रिक के आगे नहीं हो सकी, परन्तु स्वाध्याय से ही इन्होंने अनेक भाषाएँ सीखीं। घर का वातावरण छोड़कर इलाचन्द्र जोशी कोलकाता पहुँचे। वहाँ उनका सम्पर्क शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय से हुआ।

उपन्यासकार

जोशी जी एक उपन्यासकार के रूप में ही अधिक प्रतिष्ठित हैं। उनके कवि, आलोचक या कहानीकार का रूप बहुत खुलकर सामने नहीं आया। इनके उपन्यासों का आधार मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद की संज्ञा पाता है। मनोवैज्ञानिक

उपन्यासों पर 'फ्रायड' के चिन्तन का अधिक प्रभाव पड़ा, किन्तु इलाचन्द्र जोशी के साथ यह बात पूरी तरह से लागू नहीं होती। जोशी जी ने पाश्चात्य लेखकों को भी बहुत पढ़ा था, पर रूसी उपन्यासकारों-टॉल्स्टॉय और दॉस्त्योवस्की का प्रभाव अधिक लक्षित होता है। यही कारण है कि उनके औपन्यासिक चरित्रों में आपत्तिजनक प्रवृत्तियाँ होती हैं, किन्तु उनके चरित्र नायकों में सदगुणों की भी कमी नहीं होती। उदारता, दया, सहानुभूति आदि उनके अन्दर यथेष्ट रूप में पाए जाते हैं। ये नायक इन्हीं कारणों से असामाजिक कार्य भले कर बैठते हैं, किन्तु बाद में वे पश्चाताप भी करते हैं।

'जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी तथा अज्ञेय ने हिन्दी साहित्य को एक नया मोड़ दिया था। ये मूलतः मानव मनोविज्ञान के लेखक थे जिन्होंने हिन्दी साहित्य को बाहरी घटनाओं की अपेक्षा मन के भीतर के संसार की ओर मोडा था।.. इलाचन्द्र जोशी के अधिकतम उपन्यास उनके पात्रों के मनोलोक की गाथाएँ हैं जिनका अपने बाहरी संसार से टकराव होता है।'

रचनाएँ

उपन्यास के अतिरिक्त इन्होंने हिन्दी साहित्य की अन्य विधाओं में भी योगदान दिया है। इन्होंने कहानियाँ भी लिखीं। इनके चर्चित कहानी संग्रह निम्नलिखित हैं-

कहानी

1. धूपरेखा
2. आहुति
3. खण्डहर की आत्माएँ

जीवनी

1. रवीन्द्रनाथ
2. शरद: व्यक्ति और साहित्यकार
3. जीवन का महान् विश्लेषक विराटवादी कवि गेटे

आलोचनात्मक ग्रन्थ

1. साहित्य सर्जन

2. साहित्य चिन्तन
3. विश्लेषण

उपन्यास

जोशीजी 'कोलकाता समाचार', 'चाँद', 'विश्ववाणी', 'सुधा', 'सम्मेलन पत्रिका', 'संगम', 'धर्मयुद्ध', और 'साहित्यकार' जैसे पत्रिकाओं के सम्पादन से भी जुड़े रहे। इन्होंने बाल-साहित्य में भी उल्लेखनीय योगदान दिया। कुछ अनुवाद कार्य भी किए। इलाचन्द्र जोशी के प्रमुख उपन्यास इस प्रकार हैं-

घृणामयी - बाद में यही उपन्यास 'लज्जा' नाम से प्रकाशित हुआ। घृणामयी 1929 में प्रकाशित हुआ।

लज्जा 21 वर्षों के बाद 1950 में।

संन्यासी

परदे की रानी

प्रेत और छाया

मुक्तिपथ

जिप्सी

जहाज का पंछी

भूत का भविष्य

सुबह

निर्वासित

ऋतुचक्र

अन्य कार्य

'साहित्य सर्जना', 'विवेचना', 'साहित्य चिन्तन', 'रवीन्द्रनाथ', 'उपनिषद की कथाएँ', 'सूदखोर की पत्नी' आदि समालोचना और निबन्ध के ग्रन्थ हैं। इन्होंने कुछ समय तक आकाशवाणी में भी काम किया और रवीन्द्र की रचनाओं का हिन्दी में अनुवाद किया। जोशीजी ने बंगला और अंग्रेजी में भी कुछ रचनाएँ की हैं।

लेखन के विषय

जोशी जी मात्र मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी उपन्यासकार नहीं कहे जाएँगे। उन्होंने आदर्श को भी अपनी कृतियों में स्थान दिया। उन्होंने अपनी औपन्यासिक

कृतियों से समाज में उच्चतर मूल्यों की स्थापना का सफल प्रयास किया है। सही है कि उन्होंने काम वासना को भी अपने उपन्यासों का उपजीव्य बनाया है और वेश्याओं तक को अपनी कृतियों की नायिका बना दिया है। पर नारी-समस्याओं को उभारने में भी वे आगे रहे हैं और उनका समाधान भी प्रस्तुत किया है। एक बात यह भी है कि जोशी जी ने अन्य उपन्यासकारों अथवा नाटककारों की तरह अपनी कृतियों के लिए धीरोदत्त नायकों की सृष्टि नहीं की। उनके नायक मनुष्य की स्वाभाविक दुर्बलताओं से युक्त होते हैं, भले ही कालक्रम से वे अपने अधिकांश दोषों से मुक्त हो जाते हैं और एक आदर्श व्यक्ति के रूप में हमारे समक्ष प्रकट होते हैं।

मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार 'फ्रायड' के सिद्धान्तों से प्रभावित होते हैं, भले ही जोशी जी 'फ्रायड' से बहुत प्रभावित नहीं हों। एक बात फिर भी रह ही जाती है कि जोशी जी ने उन मनोग्रन्थियों और कुंठाओं को पकड़ने का प्रयास किया है, जो दमित मनोभावों से उत्पन्न होती हैं। यही कारण है कि उनकी औपन्यासिक कृतियों में कुंठा-ग्रस्त पात्रों की अधिकता है। साहित्यकार नागेन्द्र ने इन्हें सीधे-सीधे 'फ्रायड' से प्रभावित माना है, जैनेन्द्र और अज्ञेय 'फ्रायड' के मनोविज्ञान से प्रभावित हैं, तो इलाचन्द्र जोशी उसके मनोविश्लेषण से.....वे कहीं भी मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति और छायावादी संस्कारों से उबर नहीं पाते....इनके मुख्य पात्र किसी-न-किसी मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि के शिकार हैं। जब तक उन्हें ग्रन्थि का रहस्य नहीं मालूम होता, तब तक वे अनेक प्रकार के असामाजिक कार्यों में संलग्न रहते हैं, किन्तु जिस क्षण उनकी ग्रन्थियों का मूलोदघाटन हो जाता है, उसी क्षण से वे सामान्य स्थिति में पहुँच जाते हैं।

हिन्दी में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों का प्रारम्भ श्री जोशी से ही हुआ, लेकिन श्री जोशी ने मात्र मनोवैज्ञानिक यथार्थ का निरूपण न कर अपनी रचनाओं को आदर्शपरक भी बनाया। जिस तरह प्रेमचन्द सामाजिक उपन्यासों में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद के लिए विख्यात हैं, उसी तरह श्री इलाचन्द्र जोशी मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों में अपनी आदर्शवादी मनोवैज्ञानिकता के लिए प्रशंसनीय हैं। उन्होंने वेश्याओं की तरह तथाकथित पतित नारियों में भी सुधार एवं विकास की सम्भावनाएँ ढूँढीं। इन्हें भी महिमामण्डित कर इनमें आत्मविश्वास भरने और समाज की दृष्टि में इन्हें ऊँचा उठाने का प्रयास किया।

आलोचना

हिन्दी कथालोचना के इस दौर में जिन लेखकों ने कथा साहित्य के अध्ययन विश्लेषण की गंभीर शुरुआत की, वे पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी और इलाचन्द्र जोशी हैं। इन दोनों ने ही विश्व साहित्य की खिड़की हिन्दी उपन्यास के नये निकले आँगन में खोली। दोनों ने ही विश्व और भारत में मुख्यत: बंगला साहित्य के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी कथा साहित्य के मूल्यांकन की पहल की। इनमें इलाचन्द्र जोशी अपनी व्यक्तिवादी अहंवृत्ति के कारण कथा साहित्य आस्वादक कम उसके एकांगी आलोचक और दोष-दर्शक ही अधिक बने रहे। शरतचन्द्र पर लिखे गये अपने संस्मरणों में अपने अध्ययन का बखान करते हुए वे शरतचन्द्र पर जिस तरह टिप्पणी करते हैं, उससे उनकी इस अहंवृत्ति को समझा जा सकता है।

7

रामनरेश त्रिपाठी

रामनरेश त्रिपाठी हिन्दी भाषा के 'पूर्व छायावाद युग' के कवि थे। कविता, कहानी, उपन्यास, जीवनी, संस्मरण, बाल साहित्य सभी पर उन्होंने कलम चलाई। अपने 72 वर्ष के जीवन काल में उन्होंने लगभग सौ पुस्तकें लिखीं। ग्राम गीतों का संकलन करने वाले वह हिंदी के प्रथम कवि थे, जिसे 'कविता कौमुदी' के नाम से जाना जाता है। इस महत्वपूर्ण कार्य के लिए उन्होंने गांव-गांव जाकर, रात-रात भर घरों के पिछवाड़े बैठकर सोहर और विवाह गीतों को सुना और चुना। वह गांधी के जीवन और कार्यो से अत्यंत प्रभावित थे। उनका कहना था कि मेरे साथ गांधी जी का प्रेम 'लरिकाई को प्रेम' है और मेरी पूरी मनोभूमिका को सत्याग्रह युग ने निर्मित किया है। 'बा और बापू' उनके द्वारा लिखा गया हिंदी का पहला एकांकी नाटक है।

'स्वप्न' पर इन्हें हिंदुस्तान अकादमी का पुरस्कार मिला।

जीवनी

जन्म एवं प्रारम्भिक शिक्षा

उत्तर प्रदेश के सुल्तानपुर जिले के ग्राम कोइरीपुर में 4 मार्च, 1889 ई. को एक कृषक परिवार में जन्मे रामनरेश त्रिपाठी का व्यक्तित्त्व एवं कृतित्त्व अत्यन्त प्रेरणादायी था। उनके पिता पं. रामदत्त त्रिपाठी धार्मिक व सदाचार परायण ब्राह्मण थे। भारतीय सेना में सूबेदार के पद पर रह चुके पंडित रामदत्त त्रिपाठी का रक्त पंडित रामनरेश त्रिपाठी की रगों में धर्मनिष्ठा, कर्तव्यनिष्ठा व राष्ट्रभक्ति की

भावना के रूप में बहता था। दृढ़ता, निर्भीकता और आत्मविश्वास के गुण उन्हें अपने परिवार से ही मिले थे।

पं. त्रिपाठी की प्रारम्भिक शिक्षा गांव के प्राइमरी स्कूल में हुई। कनिष्ठ कक्षा उत्तीर्ण कर हाईस्कूल वह निकटवर्ती जौनपुर जिले में पढ़ने गए, मगर वह दसवीं की शिक्षा पूरी नहीं कर सके। अठारह वर्ष की आयु में पिता से अनबन होने पर वह कलकत्ता चले गए।

युवा काल

पंडित त्रिपाठी में कविता के प्रति रुचि प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करते समय जाग्रत हुई थी। संक्रामक रोग हो जाने की वजह से वह कलकत्ता में भी अधिक समय तक नहीं रह सके। सौभाग्य से एक व्यक्ति की सलाह मानकर वह स्वास्थ्य सुधार के लिए जयपुर राज्य के सीकर ठिकाना स्थित फतेहपुर ग्राम में सेठ रामवल्लभ नेवरिया के पास चले गए।

यह एक संयोग ही था कि मरणासन्न स्थिति में वह अपने घर परिवार में न जाकर सुदूर अपरिचित स्थान राजपूताना के एक अजनबी परिवार में जा पहुंचे, जहां शीघ्र ही इलाज व स्वास्थ्यप्रद जलवायु पाकर रोगमुक्त हो गए।

पंडित त्रिपाठी ने सेठ रामवल्लभ के पुत्रों की शिक्षा-दीक्षा की जिम्मेदारी को कुशलतापूर्वक निभाया। इस दौरान उनकी लेखनी पर माँ सरस्वती की मेहरबानी हुई और उन्होंने "हे प्रभो आनन्ददाता, ज्ञान हमको दीजिये" जैसी बेजोड़ रचना कर डाली जो आज भी अनेक विद्यालयों में प्रार्थना के रूप में गाई जाती है।

साहित्य कृतित्त्व

त्रिपाठी जी एक बहुमुखी प्रतिभा वाले साहित्यकार माने जाते हैं। द्विवेदी युग के सभी प्रमुख प्रवृत्तियाँ उनकी कविताओं में मिलती हैं। फतेहपुर में पं. त्रिपाठी की साहित्य साधना की शुरुआत होने के बाद उन्होंने उन दिनों तमाम छोटे-बडे बालोपयोगी काव्य संग्रह, सामाजिक उपन्यास और हिन्दी में महाभारत लिखे। उन्होंने हिन्दी तथा संस्कृत के सम्पूर्ण साहित्य का गहन अध्ययन किया। त्रिपाठी जी पर तुलसीदास व उनकी अमर रचना रामचरित मानस का गहरा प्रभाव था, वह मानस को घर-घर तक पहुँचाना चाहते थे। बेढब बनारसी ने उनके बारे में कहा था ..

तुम तोप और मैं लाठी
तुम रामचरित मानस निर्मल, मैं रामनरेश त्रिपाठी।

वर्ष 1915 में पं. त्रिपाठी ज्ञान एवं अनुभव की संचित पूंजी लेकर पुण्यतीर्थ एवं ज्ञानतीर्थ प्रयाग गए और उसी क्षेत्र को उन्होंने अपनी कर्मस्थली बनाया। थोड़ी पूंजी से उन्होंने प्रकाशन का व्यवसाय भी आरम्भ किया। पंडित त्रिपाठी ने गद्य और पद्य का कोई कोना अछूता नहीं छोड़ा तथा मौलिकता के नियम को ध्यान में रखकर रचनाओं को अंजाम दिया। हिन्दी जगत में वह मार्गदर्शी साहित्यकार के रूप में अवरित हुए और सारे देश में लोकप्रिय हो गए।

उन्होंने वर्ष 1920 में 21 दिनों में हिन्दी के प्रथम एवं सर्वोत्कृष्ट राष्ट्रीय खण्डकाव्य "पथिक" की रचना की। इसके अतिरिक्त "मिलन" और "स्वप्न" भी उनके प्रसिद्ध मौलिक खण्डकाव्यों में शामिल हैं। स्वप्नों के चित्र उनका पहला कहानी संग्रह है।

कविता कौमुदी के सात विशाल एवं अनुपम संग्रह-ग्रंथों का भी उन्होंने बड़े परिश्रम से सम्पादन एवं प्रकाशन किया।

पं. त्रिपाठी कलम के धनी ही नहीं बल्कि कर्मशूर भी थे। महात्मा गांधी के निर्देश पर वे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के प्रचार मंत्री के रूप में हिन्दी जगत के दूत बनकर दक्षिण भारत गए थे। वह पक्के गांधीवादी देशभक्त और राष्ट्र सेवक थे। स्वाधीनता संग्राम और किसान आन्दोलनों में भाग लेकर वह जेल भी गए।

पं. त्रिपाठी को अपने जीवन काल में कोई राजकीय सम्मान तो नही मिला पर उससे भी कही ज्यादा गौरवप्रद लोक सम्मान तथा अक्षय यश उन पर अवश्य बरसा। उन्होंने 16 जनवरी 1962 को अपने कर्मक्षेत्र प्रयाग में ही अंतिम सांस ली।

पंडित त्रिपाठी के निधन के बाद आज उनके गृह जनपद सुल्तानपुर जिले में एक मात्र सभागार 'पंडित राम नरेश त्रिपाठी सभागार' स्थापित है, जो उनकी स्मृतियों को ताजा करता है।

कृतियाँ

रामनरेश त्रिपाठी की चार काव्य-कृतियाँ मुख्य रूप से उल्लेखनीय है–

मिलन (1918) 13 दिनों में रचित।

पथिक (1920) 21 दिनों में रचित।

मानसी (1927) और

स्वप्न (1929)15 दिनों में रचित। इसके लिए उन्हें हिन्दुस्तान अकादमी का पुरस्कार मिला

पं. रामनरेश त्रिपाठी जी की अन्य प्रमुख कृतियां इस प्रकार हैं -

मुक्तक – मारवाड़ी मनोरंजन, आर्य संगीत शतक, कविता-विनोद, क्या होम रूल लोगे, मानसी।

(काव्य) प्रबंध: मिलन, पथिक, स्वप्न।

कहानी – तरकस, आखों देखी कहानियां, स्वपनों के चित्र, नखशिख, उन बच्चों का क्या हुआ? 21 अन्य कहानियाँ।

उपन्यास – वीरांगना, वीरबाला, मारवाड़ी और पिशाचनी, सुभद्रा और लक्ष्मी।

नाटक – जयंत, प्रेमलोक, वफाती चाचा, अजनबी, पैसा परमेश्वर, बा और बापू, कन्या का तपोवन।

व्यंग्य – दिमागी ऐयाशी, स्वप्नों के चित्र।

अनुवाद – इतना तो जानो (अटलु तो जाग्जो - गुजराती से), कौन जागता है (गुजराती नाटक)।

उन्होने गाँव-गाँव, घरदृघर घूमकर रात-रात भर घरों के पिछवाड़े बैठकर सोहर और विवाह गीतों को चुनदृचुनकर लगभग 16 वर्षों के अथक परिर्श्म से 'कविता कौमुदी' संकलन तैयार किया। जिसके 6 भाग उन्होंने 1917 से लेकर 1933 तक प्रकाशित किए।

प्रसिद्ध कृतियाँ

हे प्रभो आनंददाता!
हे प्रभो आनंददाता ! ज्ञान हमको दीजिए,
शीघ्र सारे दुर्गुणों को दूर हमसे कीजिए।
लीजिए हमको शरण में, हम सदाचारी बनें,
ब्रह्मचारी, धर्मरक्षक, वीरव्रत धारी बनें। -- रामनरेश त्रिपाठी

हमारे पूर्वज

पता नहीं है जीवन का रथ किस मंजिल तक जाये।
मन तो कहता ही रहता है, नियराये-नियराये।
कर बोला जिह्वा भी बोली, पांव पेट भर धाये।

जीवन की अनन्त धारा में सत्तर तक बह आये,
चले कहां से कहां आ गये, क्या-क्या किये कराये।
यह चलचित्र देखने ही को अब तो खाट-बिछाये,
जग देखा, पहचान लिए सब अपने और पराये।
मित्रों का उपकृत हूँ जिनसे नेह निछावर पाये,
प्रिय निर्मल जी! पितरों पर अब कविता कौन बनाये?
मैं तो स्वयं पितर बनने को बैठा हूँ मुँह बाये।
8 अप्रैल, 1958, कोइरीपुर (सुल्तानपुर), रामनरेश त्रिपाठी

8

रामधारी सिंह 'दिनकर'

रामधारी सिंह 'दिनकर' हिन्दी के एक प्रमुख लेखक, कवि व निबन्धकार थे। वे आधुनिक युग के श्रेष्ठ वीर रस के कवि के रूप में स्थापित हैं। दिनकर जी की काव्य प्रतिभा का अनुमान अभिनेता आशुतोष राणा द्वारा दिनकर जी की प्रसिद्ध कविता कृष्ण की चेतावनी को सुनकर लगाया जा सकता है।

'दिनकर' स्वतन्त्रता पूर्व एक विद्रोही कवि के रूप में स्थापित हुए और स्वतन्त्रता के बाद 'राष्ट्रकवि' के नाम से जाने गये। वे छायावादोत्तर कवियों की पहली पीढ़ी के कवि थे। एक ओर उनकी कविताओ में ओज, विद्रोह, आक्रोश और क्रान्ति की पुकार है तो दूसरी ओर कोमल शृंगारिक भावनाओं की अभिव्यक्ति है। इन्हीं दो प्रवृत्तियों का चरम उत्कर्ष हमें उनकी कुरुक्षेत्र और उर्वशी नामक कृतियों में मिलता है।

जीवनी

'दिनकर' जी का जन्म 24 सितंबर 1908 को बिहार के बेगूसराय जिले के सिमरिया गाँव में हुआ था। उन्होंने पटना विश्वविद्यालय से इतिहास राजनीति विज्ञान में बीए किया। उन्होंने संस्कृत, बांग्ला, अंग्रेजी और उर्दू का गहन अध्ययन किया था। बी. ए. की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद वे एक विद्यालय में अध्यापक हो गये। 1934 से 1947 तक बिहार सरकार की सेवा में सब-रजिस्टार और प्रचार विभाग के उपनिदेशक पदों पर कार्य किया। 1950 से 1952 तक मुजफ्फरपुर कालेज में हिन्दी के विभागाध्यक्ष रहे, भागलपुर विश्वविद्यालय के उपकुलपति के पद पर कार्य किया और उसके बाद भारत सरकार के हिन्दी सलाहकार बने।

उन्हें पद्म विभूषण की उपाधि से भी अलंकृत किया गया। उनकी पुस्तक संस्कृति के चार अध्याय के लिये साहित्य अकादमी पुरस्कार तथा उर्वशी के लिये भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार प्रदान किया गया। अपनी लेखनी के माध्यम से वह सदा अमर रहेंगे।

द्वापर युग की ऐतिहासिक घटना महाभारत पर आधारित उनके प्रबन्ध काव्य कुरुक्षेत्र को विश्व के 100 सर्वश्रेष्ठ काव्यों में 74वाँ स्थान दिया गया।

1947 में देश स्वाधीन हुआ और वह बिहार विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्रध्यापक व विभागाध्यक्ष नियुक्त होकर मुजफ्फरपुर पहुँचे। 1952 में जब भारत की प्रथम संसद का निर्माण हुआ, तो उन्हें राज्यसभा का सदस्य चुना गया और वह दिल्ली आ गए। दिनकर 12 वर्ष तक संसद-सदस्य रहे, बाद में उन्हें सन 1964 से 1965 ई. तक भागलपुर विश्वविद्यालय का कुलपति नियुक्त किया गया। लेकिन अगले ही वर्ष भारत सरकार ने उन्हें 1965 से 1971 ई. तक अपना हिन्दी सलाहकार नियुक्त किया और वह फिर दिल्ली लौट आए। फिर तो ज्वार उमरा और रेणुका, हुंकार, रसवंती और द्वंद्वगीत रचे गए। रेणुका और हुंकार की कुछ रचनाएं यहाँ-वहाँ प्रकाश में आई और प्रशासकों को समझते देर न लगी कि वे एक गलत आदमी को अपने तंत्र का अंग बना बैठे हैं और दिनकर की फाइल तैयार होने लगी, बात-बात पर कैफियत तलब होती और चेतावनियाँ मिला करतीं। चार वर्ष में बाईस बार उनका तबादला किया गया।

रामधारी सिंह दिनकर स्वभाव से सौम्य और मृदुभाषी थे, लेकिन जब बात देश के हित-अहित की आती थी तो वह बेबाक टिप्पणी करने से कतराते नहीं थे। रामधारी सिंह दिनकर ने ये तीन पंक्तियां पंडित जवाहरलाल नेहरू के खिलाफ संसद में सुनाई थी, जिससे देश में भूचाल मच गया था। दिलचस्प बात यह है कि राज्यसभा सदस्य के तौर पर दिनकर का चुनाव पंडित नेहरु ने ही किया था, इसके बावजूद नेहरू की नीतियों की मुखालफत करने से वे नहीं चूके।

देखने में देवता सदृश्य लगता है।
बंद कमरे में बैठकर गलत हुक्म लिखता है।
जिस पापी को गुण नहीं गोत्र प्यारा हो।
समझो उसी ने हमें मारा है।

1962 में चीन से हार के बाद संसद में दिनकर ने इस कविता का पाठ किया जिससे तत्कालीन प्रधानमंत्री नेहरू का सिर झुक गया था। यह घटना आज भी भारतीय राजनीति के इतिहास की चुनिंदा क्रांतिकारी घटनाओं में से एक है।

रे रोक युद्धिष्ठिर को न यहां जाने दे उनको स्वर्गधीर,
फिरा दे हमें गांडीव गदा लौटा दे अर्जुन भीम वीर।

इसी प्रकार एक बार तो उन्होंने भरी राज्यसभा में नेहरू की ओर इशारा करते हए कहा- 'क्या आपने हिंदी को राष्ट्रभाषा इसलिए बनाया है, ताकि सोलह करोड़ हिंदीभाषियों को रोज अपशब्द सुनाए जा सकें?' यह सुनकर नेहरू सहित सभा में बैठे सभी लोगसन्न रह गए थे। किस्सा 20 जून 1962 का है। उस दिन दिनकर राज्यसभा में खड़े हुए और हिंदी के अपमान को लेकर बहुत सख्त स्वर में बोले। उन्होंने कहा-

'देश में जब भी हिंदी को लेकर कोई बात होती है, तो देश के नेतागण ही नहीं बल्कि कथित बुद्धिजीवी भी हिंदी वालों को अपशब्द कहे बिना आगे नहीं बढ़ते। पता नहीं इस परिपाटी का आरम्भ किसने किया है, लेकिन मेरा ख्याल है कि इस परिपाटी को प्रेरणा प्रधानमंत्री से मिली है। पता नहीं, तेरह भाषाओं की क्या किस्मत है कि प्रधानमंत्री ने उनके बारे में कभी कुछ नहीं कहा, किन्तु हिंदी के बारे में उन्होंने आज तक कोई अच्छी बात नहीं कही। मैं और मेरा देश पूछना चाहते हैं कि क्या आपने हिंदी को राष्ट्रभाषा इसलिए बनाया था ताकि सोलह करोड़ हिंदीभाषियों को रोज अपशब्द सुनाएं? क्या आपको पता भी है कि इसका दुष्परिणाम कितना भयावह होगा'

यह सुनकर पूरी सभा सन्न रह गई। ठसाठस भरी सभा में भी गहरा सन्नाटा छा गया। यह मुर्दा-चुप्पी तोड़ते हुए दिनकर ने फिर कहा- 'मैं इस सभा और खासकर प्रधानमंत्री नेहरू से कहना चाहता हूं कि हिंदी की निंदा करना बंद किया जाए। हिंदी की निंदा से इस देश की आत्मा को गहरी चोट पहुँचती है।'

प्रमुख कृतियाँ

उन्होंने सामाजिक और आर्थिक समानता और 'शोषण के खिलाफ कविताओं की रचना की। एक प्रगतिवादी और मानववादी कवि के रूप में उन्होंने ऐतिहासिक पात्रों और घटनाओं को ओजस्वी और प्रखर शब्दों का तानाबाना दिया। उनकी महान रचनाओं में रश्मिरथी और परशुराम की प्रतीक्षा शामिल है। उर्वशी को छोड़कर दिनकर की अधिकतर रचनाएँ वीर रस से ओतप्रोत है। भूषण के बाद उन्हें वीर रस का सर्वश्रेष्ठ कवि माना जाता है।

ज्ञानपीठ से सम्मानित उनकी रचना उर्वशी की कहानी मानवीय प्रेम, वासना और सम्बन्धों के इर्द-गिर्द घूमती है। उर्वशी स्वर्ग परित्यक्ता एक अप्सरा

की कहानी है। वहीं, कुरुक्षेत्र, महाभारत के शान्ति-पर्व का कवितारूप है। यह दूसरे विश्वयुद्ध के बाद लिखी गयी रचना है। वहीं सामधेनी की रचना कवि के सामाजिक चिन्तन के अनुरूप हुई है। संस्कृति के चार अध्याय में दिनकरजी ने कहा कि सांस्कृतिक, भाषाई और क्षेत्रीय विविधताओं के बावजूद भारत एक देश है। क्योंकि सारी विविधताओं के बाद भी, हमारी सोच एक जैसी है।

विस्तृत दिनकर साहित्य सूची नीचे दी गयी है-

काव्य

1. बारदोली-विजय संदेश (1928)
2. प्रणभंग (1929)
3. रेणुका (1935)
4. हुंकार (1938)
5. रसवन्ती (1939)
6. द्वंद्वगीत (1940)
7. कुरूक्षेत्र (1946)
8. धूप-छाँह (1947)
9. सामधेनी (1947)
10. बापू (1947)
11. इतिहास के आँसू (1951)
12. धूप और धुआँ (1951)
13. मिर्च का मजा (1951)
14. रश्मिरथी (1952)
15. दिल्ली (1954)
16. नीम के पत्ते (1954)
17. नील कुसुम (1955)
18. सूरज का ब्याह (1955)
19. चक्रवाल (1956)
20. कवि-श्री (1957)
21. सीपी और शंख (1957)
22. नये सुभाषित (1957)
23. लोकप्रिय कवि दिनकर (1960)

24. उर्वशी (1961)
25. परशुराम की प्रतीक्षा (1963)
26. आत्मा की आँखें (1964)
27. कोयला और कवित्व (1964)
28. मृत्ति-तिलक (1964) और
29. दिनकर की सूक्तियाँ (1964)
30. हारे को हरिनाम (1970)
31. संचियता (1973)
32. दिनकर के गीत (1973)
33. रश्मिलोक (1974)
34. उर्वशी तथा अन्य श्रृंगारिक कविताएँ (1974)

गद्य

1. मिट्टी की ओर 1946
2. चित्तौड़ का साका 1948
3. अर्धनारीश्वर 1952
4. रेती के फूल 1954
5. हमारी सांस्कृतिक एकता 1955
6. भारत की सांस्कृतिक कहानी 1955
7. संस्कृति के चार अध्याय 1956
8. उजली आग 1956
9. देश-विदेश 1957
10. राष्ट्र-भाषा और राष्ट्रीय एकता 1955
11. काव्य की भूमिका 1958
12. पन्त-प्रसाद और मैथिलीशरण 1958
13. वेणुवन 1958
14. धर्म, नैतिकता और विज्ञान 1969
15. वट-पीपल 1961
16. लोकदेव नेहरू 1965
17. शुद्ध कविता की खोज 1966
18. साहित्य-मुखी 1968

19. राष्ट्रभाषा आंदोलन और गांधीजी 1968
20. हे राम! 1968
21. संस्मरण और श्रद्धांजलियाँ 1970
22. भारतीय एकता 1971
23. मेरी यात्राएँ 1971
24. दिनकर की डायरी 1973
25. चेतना की शिला 1973
26. विवाह की मुसीबतें 1973
27. आधुनिक बोध 1973

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा था 'दिनकरजी अहिंदीभाषियों के बीच हिन्दी के सभी कवियों में सबसे ज्यादा लोकप्रिय थे और अपनी मातृभाषा से प्रेम करने वालों के प्रतीक थे।' हरिवंश राय बच्चन ने कहा था 'दिनकरजी को एक नहीं, बल्कि गद्य, पद्य, भाषा और हिन्दी-सेवा के लिये अलग-अलग चार ज्ञानपीठ पुरस्कार दिये जाने चाहिये।' रामवृक्ष बेनीपुरी ने कहा था 'दिनकरजी ने देश में क्रान्तिकारी आन्दोलन को स्वर दिया।' नामवर सिंह ने कहा है 'दिनकरजी अपने युग के सचमुच सूर्य थे।' प्रसिद्ध साहित्यकार राजेन्द्र यादव ने कहा था कि दिनकरजी की रचनाओं ने उन्हें बहुत प्रेरित किया। प्रसिद्ध रचनाकार काशीनाथ सिंह के अनुसार 'दिनकरजी राष्ट्रवादी और साम्राज्य-विरोधी कवि थे।'

रचनाओं के कुछ अंश

किस भांति उठूँ इतना ऊपर?
मस्तक कैसे छू पाउँ मैं?
ग्रीवा तक हाथ न जा सकते,
उँगलियाँ न छू सकती ललाट
वामन की पूजा किस प्रकार,
पहुँचे तुम तक मानव विराट?

रे रोक युधिष्ठर को न यहाँ, जाने दे उनको स्वर्ग धीर
पर फिरा हमें गांडीव गदा, लौटा दे अर्जुन भीम वीर–(हिमालय से)
क्षमा शोभती उस भुजंग को, जिसके पास गरल होय
उसको क्या जो दन्तहीन, विषहीन, विनीत, सरल हो।–(कुरुक्षेत्र से)
पत्थर सी हों मांसपेशियाँ, लौहदंड भुजबल अभयय

नस-नस में हो लहर आग की, तभी जवानी पाती जय।–(रश्मिरथी से)
हटो व्योम के मेघ पंथ से, स्वर्ग लूटने हम जाते हैंय
दूध-दूध ओ वत्स तुम्हारा, दूध खोजने हम जाते है।
सच पूछो तो सर में ही, बसती है दीप्ति विनय कीय
सन्धि वचन संपूज्य उसी का, जिसमें शक्ति विजय की।
सहनशीलता, क्षमा, दया को तभी पूजता जग हैय
बल का दर्प चमकता उसके पीछे जब जगमग है।ष
दो न्याय अगर तो आधा दो, पर इसमें भी यदि बाधा हो,

तो दे दो केवल पाँच ग्राम, रक्खो अपनी धरती तमाम।–(रश्मिरथी, तृतीय सर्ग, भाग 3)

जब नाश मनुज पर छाता है, पहले विवेक मर जाता है।–(रश्मिरथी , तृतीय सर्ग , भाग 3)।।

वैराग्य छोड़ बाँहों की विभा संभालो चट्टानों की छाती से दूध निकालो है रुकी जहाँ भी धार शिलाएं तोड़ो पीयूष चन्द्रमाओं का पकड़ निचोड़ो (वीर से)

सम्मान

1999 में भारत सरकार ने रामधारी सिंह दिनकर की स्मृति में डाक टिकट जारी किया।

दिनकरजी को उनकी रचना कुरुक्षेत्र के लिये काशी नागरी प्रचारिणी सभा, उत्तरप्रदेश सरकार और भारत सरकार से सम्मान मिला। संस्कृति के चार अध्याय के लिये उन्हें 1959 में साहित्य अकादमी से सम्मानित किया गया। भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ राजेंद्र प्रसाद ने उन्हें 1959 में पद्म विभूषण से सम्मानित किया। भागलपुर विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलाधिपति और बिहार के राज्यपाल जाकिर हुसैन, जो बाद में भारत के राष्ट्रपति बने, ने उन्हें डॉक्ट्रेट की मानद उपाधि से सम्मानित किया। गुरू महाविद्यालय ने उन्हें विद्या वाचस्पति के लिये चुना। 1968 में राजस्थान विद्यापीठ ने उन्हें साहित्य-चूड़ामणि से सम्मानित किया। वर्ष 1972 में काव्य रचना उर्वशी के लिये उन्हें ज्ञानपीठ से सम्मानित किया गया। 1952 में वे राज्यसभा के लिए चुने गये और लगातार तीन बार राज्यसभा के सदस्य रहे।

मरणोपरान्त सम्मान

30 सितम्बर 1987 को उनकी 13वीं पुण्यतिथि पर तत्कालीन राष्ट्रपति जैल सिंह ने उन्हें श्रद्धांजलि दी। 1999 में भारत सरकार ने उनकी स्मृति में डाक टिकट जारी किया। केंद्रीय सूचना और प्रसारण मन्त्री प्रियरंजन दास मुंशी ने उनकी जन्म शताब्दी के अवसर पर रामधारी सिंह दिनकर- व्यक्तित्त्व और कृतित्त्व पुस्तक का विमोचन किया।

उनकी जन्म शताब्दी के अवसर पर बिहार के मुख्यमन्त्री नीतीश कुमार ने उनकी भव्य प्रतिमा का अनावरण किया। कालीकट विश्वविद्यालय में भी इस अवसर को दो दिवसीय सेमिनार का आयोजन किया गया।

9

काशीनाथ सिंह

काशीनाथ सिंह हिन्दी साहित्य की साठोत्तरी पीढ़ी के प्रमुख कहानीकार, उपन्यासकार एवं संस्मरण-लेखक हैं। काशीनाथ सिंह ने लंबे समय तक काशी हिंदू विश्वविद्यालय में हिन्दी साहित्य के प्रोफेसर के रूप में अध्यापन कार्य किया। सन् 2011 में उन्हें रेहन पर रग्घू (उपन्यास) के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार प्रदान किया गया। उन्हें उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा राज्य में साहित्य के सर्वोच्च सम्मान भारत भारती से भी सम्मानित किया जा चुका है।

जीवन परिचय

काशीनाथ सिंह का जन्म वाराणसी (अब चंदौली) के जीयनपुर गाँव में 1 जनवरी, सन् 1937 को हुआ था। उनकी प्रारंभिक शिक्षा उनके पैत्रिक गाँव जीयनपुर के पास के विद्यालयों में ही हुई। सन् 1953 में हाईस्कूल की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। हालाँकि गणित विषय में वे कमजोर थे। उच्च शिक्षा के लिए काशीनाथ सिंह बनारस चले आये जहाँ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से उन्होंने स्नातक, परास्नातक (1959) और पी-एच.डी. (1963) की उपाधियाँ प्राप्त कीं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में ही पहले वे हिंदी भाषा का ऐतिहासिक व्याकरण कार्यालय में सन् '62 से '64 तक शोध सहायक रहे। फिर सन् 1965 में वहीं उन्होंने अध्यापन कार्य शुरू किया और हिन्दी साहित्य के प्रोफेसर और विभागाध्यक्ष के पद पर कार्य करते हुए 1997 में सेवानिवृत्त हुए। हिन्दी के सुप्रसिद्ध आलोचक डॉ. नामवर सिंह काशीनाथ सिंह के बड़े भाई हैं।

साहित्य सृजन

काशीनाथ सिंह की सृजन-यात्रा साठोत्तरी पीढ़ी के एक कहानीकार के रूप में आरंभ हुई। उनकी पहली कहानी 'संकट' कृति पत्रिका (सितंबर 1960) में प्रकाशित हुई थी। काशीनाथ सिंह साठोत्तरी पीढ़ी के सुप्रसिद्ध 'चार यार' रवीन्द्र कालिया, दूधनाथ सिंह और ज्ञानरंजन के साथ चौथे 'यार' हैं। उनका पहला उपन्यास अपना मोर्चा 1967 ईस्वी के छात्र आंदोलन को केंद्र में रखकर लिखा गया था। लंबे समय तक वे कहानीकार के रूप में ही विख्यात रहे। बाद में संस्मरण के क्षेत्र में उतरने पर उन्हें काफी ख्याति प्राप्त हुई। 'अपना मोर्चा' के लंबे समय बाद उनका दूसरा उपन्यास 'काशी का अस्सी' प्रकाशित हुआ जो वस्तुतः कहानियों एवं संस्मरणों का सम्मिलित रूप है। सन् 2002 में प्रकाशित 'काशी का अस्सी' को उनका सबसे महत्त्वपूर्ण काम माना जाता है। यह घाटों, अजीब पात्रों और 1970 के दशक के छात्र राजनेताओं के जीवन के अंदरूनी चित्र की तरह लिखा गया है। उपन्यास वाराणसी के रंगीन जीवन के विस्तृत चित्रण में अद्वितीय माना जाता है।

काशीनाथ सिंह साहित्यिक व्यक्तित्त्वों के जीवन से सम्बद्ध संस्मरण-लेखन की अपनी अनूठी शैली के लिए भी जाने जाते हैं। उनके संस्मरणों को शरद जोशी पुरस्कार-प्राप्त 'याद हो कि न याद हो' तथा 'आछे दिन पाछे गये' में संकलित किया गया है। नामवर सिंह के जीवन पर केंद्रित संस्मरण-पुस्तक है 'घर का जोगी जोगड़ा'। 'काशी का अस्सी' के अंशों को प्रसिद्ध निर्देशक उषा गांगुली द्वारा रंगमंच पर प्रस्तुत किया गया है और इसी उपन्यास पर चंद्रप्रकाश द्विवेदी द्वारा फीचर फिल्म मोहल्ला अस्सी का भी निर्माण किया जा चुका है।

काशीनाथ सिंह को 2011 में उनके उपन्यास 'रेहन पर रग्घु' के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला। 'काशी का अस्सी' पर आधारित एक नाटक 'काशीनामा' भारत और विदेशों में 125 बार आयोजित किया गया है।

प्रकाशित कृतियाँ

कहानी-संग्रह

1. लोग बिस्तरों पर 1968
2. सुबह का डर 1975
3. आदमीनामा 1978

4. नयी तारीख 1979
5. कल की फटेहाल कहानियाँ 1980
6. प्रतिनिधि कहानियाँ 1984
7. सदी का सबसे बड़ा आदमी 1986
8. 10 प्रतिनिधि कहानियाँ 1994
9. कहनी उपखान (सम्पूर्ण कहानियाँ)- 2003 (राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली से)
10. संकलित कहानियाँ 2008
11. कविता की नयी तारीख 2010
12. खरोंच 2014 (साहित्य भंडार, चाहचंद रोड, इलाहाबाद से)

उपन्यास

1. अपना मोर्चा - 1972
2. काशी का अस्सी - 2002
3. रेहन पर रग्घू - 2008
4. महुआ चरित - 2012
5. उपसंहार - 2014

संस्मरण

1. याद हो कि न याद हो -1992
2. आछे दिन पाछे गए - 2004
3. घर का जोगी जोगड़ा -2006

शोध-आलोचना

1. हिंदी में संयुक्त क्रियाएं 1976
2. आलोचना भी रचना है 1996
3. लेखक की छेड़छाड़ 2013

नाटक

घोआस (प्रथम प्रकाशन – युयुत्सा पत्रिका, कोलकाता-1969, द्वितीय प्रकाशन रू रचना प्रकाशन, इलाहाबाद-1975, तृतीय प्रकाशन - प्रारूप प्रकाशन,

इलाहाबाद–1982, 2015 ई. में साहित्य भंडार, चाहचंद रोड, इलाहाबाद से पुनर्प्रकाशित)

साक्षात्कार–

गपोड़ी से गपशप 2013 (संपादक– पल्लव)

संपादन–

परिवेश (अनियतकालीन पत्रिका 1971–76)

काशी के नाम 2007 (नामवर सिंह के पत्रों का संचयन)

काशीनाथ सिंह पर केंद्रित विशिष्ट साहित्य

कहन पत्रिका का विशेषांक 'साठ के काशी और काशी का साठ', संपादक– मनीष दुबे, 2000 (पुस्तक रूप में कासी पर कहन मीरा पब्लिकेशंस, न्याय मार्ग, इलाहाबाद से)

'बनास जन' का विशेषांक 'गल्पेतर गल्प का ठाठ' 'काशी का अस्सी' पर केंद्रित – 2010 (संपादक– पल्लव, पुस्तक रूप में ' अस्सी का काशी – गल्पेतर गल्प का ठाठ', साहित्य भंडार, चाहचंद रोड, इलाहाबाद से)

संबोधन का विशेषांक (अक्टूबर 2012 – जनवरी 2013) संपादक– कमर मेवाड़ी

सम्मान

कथा सम्मान
समुच्चय सम्मान
शरद जोशी सम्मान
साहित्य भूषण सम्मान
भारत भारती पुरस्कार
साहित्य अकादमी पुरस्कार

'घर का जोगी जोगड़ा' के बारे में

'काशीनाथ सिंह का आख्यानक उनके रचनात्मक गद्य की पूरी ताकत के साथ सामने आया है। काशी के पास रचानात्मक गद्य की जीवंतता है–गहरे अनुभव–संवेदन हैं। उनकी भाषा को लेकर और अभिव्यक्ति भंगिमाओं को लेकर

काफी कुछ कहा गया है, परन्तु जो बात देखने की है वह यह है कि अपनी जमीन और परिवेश से काशी बना देने का कितना माद्दा है। काशी पूरी ऊर्जा में बहुत सहज होकर लिखते हैं और जब 'भइया' सामने हों तो वे अपनी रचनात्मकता के चरम पर पहुँचते हैं और महत्त्वपूर्ण के साथ-साथ तमाम मार्मिक और बेधक भी हमें दे जाते हैं।

बहुपठित, बहुचर्चित, बहुप्रशंसित संस्मरण हैं ये कथाकार भाई काशीनाथ सिंह के। केन्द्र में हैं हिंदी समीक्षा के शिखर पुरुष नामवर सिंह के जीवन के अलग-अलग दो संघर्षशील कालखंड ! विशेष बात सिर्फ यह कि यदि 'गरबीली गरीबी वह' ने संस्करण विधा को पुनर्जीवन के साथ पहचान दी थी तो 'घर का जोगी जोगड़ा' ने उसे नई ऊँचाई और सम्भावनाएँ।

वे (नामवर) हिन्दी के पहले मिशनरी आलोचक हुए जो साहित्य की चिन्ताओं के साथ हिन्दी और अहिन्दी प्रदेश के शहरों में ही नहीं, कस्बों और गाँवों तक गएय ज्ञानियों, अज्ञानियों, और विज्ञानियों के बीच गए, पढ़े-लिखों और बेपढ़ों को सुना-सुनाया, हिलाया-झुकाया, झकझोरा उसके बीच बोलकर जो साहित्य से बाहर के थे, गैर-पेशे के थे और हिन्दी और साहित्य के प्रति उपहास का भाव रखते थे ! उन्होंने उनके भीतर एक बेचैनी पैदा की-जीवन के लिए, समाज के लिएय और अहसास कराया कि साहित्य वही नहीं है, जो किताबों में हैं, और जो किताबों में है वह भी तुम्हारे जीवन और साहित्य के सिवा कुछ दूसरा नहीं है। किताबों से बाहर जो तुम्हारे खाने-पीने और जीने-मरने में है वह भी साहित्य है।

पचासों हैं जिनमें कविता-कहानी का विवेक नामवर को सुनकर आया है।

सैकड़ों हैं जिन्होंने कोई कविता इसलिए खरीदी कि उसका जिक्र नामवर के व्याख्यान में आया था।

हजारों हैं जिनकी साहित्य में दिलचस्पी नामवार को सुनकर हुई है।

और ऐसे संख्या तो लाखों में हैं जिन्हें नामवर को सुनकर हिन्दी स्वादिष्ट लगी है। इसी को नामवर आलोचना की 'वाचिक परम्परा' कहते हैं।...

-इसी पुस्तक से....

बाबा जोगी एक अकेला।
जाके तीरथ बरत न मेला।।
झोली पत्र भभूत न बटुवा,
अनहद बेन बजावै।

माँगि न खाइ न भूखा सोवै,
घर अँगना फिरि आवै।
पाँच जना क जमात चलावै,
तास गुरू मैं चेला।
कहै कबीर उनि देस सिधाया।
बहुरि न इह जग मेला।।
बाबा जोगी एक अकेला।।
('कबीर-समग्र' पद,)

स्मरण

शायद ही मेरी कोई ऐसी कहानी हो जो भैया को पसन्द हो लेकिन ऐसा संस्मरण और कथा-रिपोर्ताज भी शायद ही हो जो उन्हें नापसन्द हो।

यह कहते हुए मुझे गर्व हो रहा है कि वे मेरे बड़े भाई ही नहीं, कथागुरु भी हैं। मुझमें जो भी थोड़ा-बहुत कथा-विवेक है, उन्हीं से अर्जित है। अगर मैं कहानी से संस्मरण की तरफ गया और फिर संस्मरण से कथा-रिपोर्ताज की ओर, तो इसके पीछे कहीं न कहीं वे भी हैं। उनके सिवा और कौन समझ सकता है कि मेरे कथकार की कमजोरियों और उसकी रचनात्मक ताकत को? लम्बे-चौड़े मैदान में एक ही स्थान पर खड़े रहकर जिन्दगी भर 'बाएँ-दाएँ' करते रहने से बेहतर है अपनी सम्भावनाओं और क्षमताओं के लिए नए क्षितिज खोजना और किसी ऊसर पड़े खेत को हरा-भरा बनाना।

मैं उन्हें अपने कानों से पढ़ता रहा हूँ पिछले पचास वर्षों से। वे जो कहते रहते हैं, उसे कभी लिखते हैं कभी नहीं लिखते। ऐसा भी हुआ है कि जिस बात को सन् '60 से कहते रहे हों, उसे 90 में जाकर लिखा हो। मैं जिस नगर में रहता हूँ वह मूल रूप से स्मृति और श्रुतिपरम्परा का ही नगर है। मुझे कहने में संकोच नहीं कि मैंने उन्हें कम से कम पढ़ा है और समझा तो उससे भी कम। लेकिन उनसे जो सुनता हूँ उनमें से अपने काम की या जरूरत की बातें गिरह बाँध लेता हूँ।

मुझे अपना पहला संस्मरण लिखना पड़ा उनकी 'षष्टिपूर्ति पर ! 'पहल' के लिए ! यानी '85-'86 के करीब ! कहानियाँ लिखते-लिखते ऊब-सा रहा था। कहानी से जो चाहता था, वह नहीं हो रहा था मुझसे। और संस्मरण के लिए हिन्दी में कोई मॉडल नहीं था मेरे सामने ! जो था वह रूखा, सूखा बेजान,

अनाकर्षक, मांस-मज्जा हीन, ऊष्मा रहित। हड्डियों के निर्जीव ढाँचे की तरह। साथ ही संस्मरण की जगह साहित्य के समाज में उस दलित जैसी थी जिसके लिए 'पंगत' में कोई पत्तल नहीं।

मेरा कथाकार संस्मरण के शास्त्र को बदल देना चाहता था लेकिन यह उस पर नहीं, उस व्यक्ति या उन व्यक्तियों के जीवन पर निर्भर था जो जीने की निर्धारित शास्त्रीयता को अस्वीकार कर रहे थे !

मुझे याद आया भैया का एक पत्र। सन् '65 में बनारस छोड़ने के बाद का पहला पत्र। दिल्ली से। मुक्तिबोध को गुजरे कुछ ही महीने हो रहे थे और उन पर 'राष्ट्रवाणी' का एक अंक आया था। पत्र के अन्त में उन्होंने दो वाक्य लिखे थे-'तुमने 'राष्ट्रवाणी' के मुक्तिबोध विशेषांक में छोटे भाई शरत मुक्तिबोध का निबंध पढ़ा? पढ़ लेना, कौन जाने कभी तुम्हें भी लिखना पड़े तब याद रखना कि गद्य ऐसा ही हो-बल्कि इससे भी ज्यादा खुश्क ! मैंने वह संस्मरण पढ़ा था लेकिन ऐसा कुछ खास नहीं लगा था। इस चिठी में मेरे मतलब की सिर्फ एक चीज थी कि गद्य कैसा हो? खुश्क यानी गीला न हो, भीगा न हो-कपड़े उसे निचोड़ कर, पानी निथार कर सुखा लो और जब हल्का, कड़कड़ हो जाए, उसमें चमक आ जाए तब इस्तेमाल करो। राग-विराग मुक्त गद्य ! यह मेरी समझ थी, उनकी क्या थी, नहीं मालूम !

लेकिन ऐसा बेजान और बेस्वाद गद्य किस काम का? जिसमें न आकर्षण हो न लज्जत?

इसका भी उत्तर मुझे उन्हीं की बातों में मिला जो करते रहते थे। अक्सर ! भारतेन्दु युगीन गद्य के सन्दर्भ में। गुलेरी जी के सन्दर्भ में कि संस्कृत और पुरानी हिन्दी का इतना बड़ा आचार्य लेकिन 'उसने कहा था' और 'कछुआ-धर्म' की भाषा देखो उनकी। तो 'हँसमुख-गद्य' आत्मीयता, जिन्दादिली और मस्ती से सराबोर हँसमुख गद्य ! बनारस की मिट्टी और आबोहवा में ही कुछ ऐसा है—फक्कड़ी, अक्खड़ी, हँसी-ठिठोली, व्यंग्य-विनोद, मौज-मस्ती। लेकिन इस किस्म का गद्य किसी टकसाल में नहीं, सड़कों पर, फुटपाथों पर, पंसारी और पनवाड़ी की दुकानों पर, रिक्शों-ठेलों पर मिलता है। इफारत भरा पड़ा है। जरूरत है उसे जीने की, साधने की। आलोचना की तो सीमाएँ हैं, लेकिन रचनात्मक साहित्य की कोई सीमा नहीं।

अकादमिक तंत्र के भीतर कुलीनों के बीच रहने वाले लेखक के लिए मुश्किल काम, लेकिन एक झरोखा तो खुला ही था मेरी आँखों के आगे।

उसे झरोखे से जो पहला चेहरा नजर आया, वह मेरे ही बड़े भाई का था !

काशीनाथ

जीयनपुर

नामवर के गुरु हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर के प्रसंग में लिखा था कि प्रतिभा जन्म लेने के लिए किसी कुल विशेष का इन्तजार नहीं करती। वे यह कहना भूल गए कि वह कभी-कभी इन्तजार भी करती है, लेकिन टीले या ऊसर का कृवरना नामवर को पैदा होने के लिए बनारस जिले में एक जीयनपुर ही नहीं था।

जीयनपुर को ऊसर गाँव बोलते थे उस जमाने में।

इस गाँव को पास-पड़ोस के धोबी जानते थे, जिन्हें रेह की जरूरत पड़ती थी कपड़े धोने के लिए ! गिद्ध भी जानते थे। दैव भी जानता था। लेकिन जाने क्या था कि जब आस-पास के सारे गाँव पानी में डूबकर 'त्राहि-त्राहि' कर रहे होते थे, यह गाँव प्यासा का प्यासा रह जाता था।

नाम जीयनपुर और जीवन का पता नहीं !

हो सकता है, जीवन की चाहत ने ही इसे जीयनपुर नाम दिया हो।

लेकिन यह 'पुर' नहीं, 'पुरवा' था-किसी गाँव का पूरक। नामालूम-सी एक छोटी बस्ती !

बचपन में जैसे ही इस गाँव से बाहर निकलने लायक होने लगते थे, घर में पहला पाठ यही पढ़ाया जाता था कि अगर कहीं भटक गए या गुम हो गए, और कोई पूछे कहाँ घर है? कहाँ रहते हो? तो क्या बोलोगे? और उत्तर रटाया जाता था-'आवाजपुर ! जीयनपुर कहोगे तो कोई नहीं समझेगा !'

आवाजपुर रोड के किनारे। आबादी और क्षेत्रफल के हिसाब से बड़ा गाँव, ठाकुरों के कई टोले। कोई ऐसी जाति नहीं जो न हो। स्कूल भी, दवाखाना भी। ऐसा गाँव जिसमें सम्पन्न भी थे, शिक्षित भी, बाहर नौकरी करने वाले भी।

नामवर ने इसी गाँव में हिन्दी की वर्णमाला सीखी थी-'न' पर 'आ' की मात्रा 'ना।' जीयनपुर इसी आवाजपुर से एक मील पूरब था !

आइए, चलिए नामवर के बचपन के गाँव।

उत्तर तरफ गाँव की पूरी बस्ती को नापती हुई पोखर, जिसे 'महदेवा' बोलते थे—इसलिए कि पोखर के पार महादेव की पिंडी थी। शायद यह पोखर

इसलिए थी कि इसी जगह की माटी से गाँव के घर दुआर बनाए जाते थे। पोखर पूरे गाँव की थी, किसी एक की नहीं।

गाँव के पूरब भीटा था-उत्तर से दक्खिन तक फैला हुआ जिस पर एक कतार में ताड़ के पेड़ थे-इसीलिए उसे कुछ लोग ताड़गाँव भी बोलते थे। ताड़ों पर गिद्धों और चीलों का बसेरा था ! उसी पर बैठकर वे सिवान में फेंके हुए या मरे हुए डाँगरों का जायजा लेते थे। रास्तों में अक्सर उनके उड़ने और पत्तों के खड़खड़ाने की आवाजें आती थीं। और जाड़ों में भोर के समय ताड़ों के बड़े-बड़े पके फूल भद्‌भद् गिरते तो हम उठकर नींद में दौड़ते और उठा लाते। उनके लिए लूट मची रहती थी।

कालू गोंड़ तो ताड़े भर उन्हीं के घात में रहते और उन्हीं पर गुजारा करते।

इन्हीं ताड़ों के बीच में नीम का एक बहुत बड़ा और गझिन पेड़ था जिस पर पचौंया (नागपंचमी) की शाम झूला पड़ता था। घराने के सभी मर्द-औरतें इस पर झूलते और कजली गाते थे। 'हरी-हरी' या 'हरे रामा' से शुरू होने वाली कजलियाँ—आज भी कहीं झूला दिखाई पड़ता है, तो कानों में गूँजने लगती हैं। लड़के दिन में या शाम को झूलते थे और सयानी लड़कियाँ, बहुएँ या भाभियाँ रात या भोर में !

इसी नीम के नीचे अखाड़ा भी था।

ये ताड़ जहाँ खत्म होते थे-वहीं से पूरब के लिए छौरा जाता था, जिसके मोड़ के पास काली माई का चौरा था। साल में दो बार गाँव की औरतें माता माई की पूजा करती थीं और चढ़ावे चढ़ाती थीं।

दक्खिनी सीमा पर बावड़ी थी, जो भैसों के मड़िया लेने के काम आती थी ! फिर उसके बाद पठार जैसा भीटा जो गाँव और चमटोल के बीच 'डिवाइडर' था। इस भीटा पर पीपल का एक अकेला पुराना दरख्त था जिसके नीचे बरम बाबा !

चमटोल गाँव के दक्खिन थी-भीटा से परे !

हमारे हाईस्कूल की छमाही परीक्षा में सामान्य ज्ञान के प्रश्नपत्र में एक सवाल पूछा गया था-'चमटोल गाँव के दक्खिन ही क्यों होती है?' हम उत्तर नहीं दे सके थे लेकिन सचाई थी। उस पूरे इलाके में हर गाँव के दक्खिन चमटोल। मास्टर ने बताया था कि चमारों की बस्तियाँ गन्दी, बदबूदार और रोगाणुओं से भरी होती हैं। हवाएँ प्रायः पूरब, पश्चिम और उत्तर से ही चलती हैं, दक्खिन से नहीं।

इसलिए रोग व्याधि से गाँव की मुक्ति चमटोल के दक्खिन बसने में ही हैं ! देवी-देवताओं का वास भी उस दिशा में नहीं होता।

पच्छिम ऊसर था जिस पर डीह बाबा थे। गाँव के रक्षक ! सामान्य ज्ञान वाले प्रश्नपत्र में दूसरा प्रश्न भी यही था-'डीह हमेशा गांव के पच्छिम ही क्यों होते हैं?' उत्तर भी उसी तरह के-कि गाँवों पर सारे आक्रमण पच्छिम से ही होते रहे हैं। सिकन्दर से लेकर मुगलों तक।

तो यह थी गाँव की चौगद्दी।

फसलें दो होती थीं-अगहनी और चेती ! जब तक धान नहीं तैयार होते तब तक गाँव बाजरा, जोन्हरी और सावाँ से काम चलाता। उन्हीं के दाने और उन्हीं के भात। धान की दो ही किस्में होती थीं-सारो और सिलहट। इनके भात लाल रंग के होते। समय-समय पर बाजरे और अरहर की खुद्दियों की लिट्टियाँ भी बनती रहतीं। जाड़ों की रात में भात और दिन में मटर की घुघनी और ईख का रस ! सब्जी मौसमी थीं। बरसात में करेम और सनई के फूलों के साग और जाड़ों में बथुआ और चने के !

गरमी की भोर की शुरुआत होती सिवान में महुवा बीनने से। दोपहर आम और जामुन के पीछे बगीचे में। रात को जौ की रोटियाँ बनतीं और अरहर की पनियल दाल। गेहूँ को 'ब्राह्मण देवता' कहा जाता था। थोड़ा बहुत होता भी तो शादी-ब्याह और श्राद्ध के लिए रखा रहता। प्रायः हर घर में एक-एक भैंस थी लेकिन जब ब्यासी होती तो उसका मठा ही मिलता-वह भी नपने से, उम्र के हिसाब से ! दूध या दही के दर्शन खिचड़ी (मकर संक्राति) को होते, चिउड़ा के साथ।

यह सारा कुछ इसलिए कि सिंचाई कुएँ या दैव के भरोसे थी।

कहते हैं, कोई घूरी सिंह थे खड़ान गाँव में-उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में ! महारानी विक्टोरिया के राज में हिन्दुस्तानी फौज में सूबेदार ! लम्बे तगड़े मजबूत कद-काठी के जवान। बहादुर और दिलेर। अपने रेजिमेंट के साथ कहीं उत्तर-पूरब में पड़े हुए थे ! जंगली पहाड़ी घनघोर इलाका। जाड़े के दिन थे। सुबह शौच के लिए लोटे में पानी लेकर निकले और दूर चले गए छावनी से ! वे बैठे ही थे निपटने के लिए कि एक बाघ ने उन पर आक्रमण कर दिया। उस बाघ ने आतंक मचा रखा था, उस इलाके में। वे सुन चुके थे उसके बारे में। चालाक से चालाक शिकारी भी उससे हार मार चुके थे। घूरी के पास कोई हथियार नहीं

था सिवा कम्बल और लौटे के ! वे उस पर कम्बल फेंक कर टूट पड़े। किसी तरह गरदन समेत जबड़े को कम्बल में लपेटा और लोटे से ताबड़तोड़ वार करना शुरू किया माथे पर। वे लहूलुहान हो गए लेकिन मारते रहे ! धीरे-धीरे वह घुर्रघुर्र करने के बाद ठंडा हो गया।

खबर पहुँची बर्तानिया सरकार के आला अफसरों के पास। उन्होंने जब बाघ की खाल, चिथड़ा कम्बल और पिचका लोटा देखा तो विश्वास हो गया। उन्हीं की सिफारिश पर इनाम में घूरी को तीन गाँव दिए गए-पहाड़पुर, करजौंड़ा और जीयनपुर। खड़ान गाँव इन गाँवों से तीन-चार मील दूर ! कैसे सम्भव थी इनकी देख भाल? करजौंड़ा और पहाड़पुर में पहले से बसाहट थी, बस्तियाँ थीं, लोग थे। इस हिसाब से जीयनपुर ठीक लगा उन्हें। यहाँ सिर्फ ठाकुरों के दो घर थे-बाकी नागफनी के जंगल, झाड-झंखाड़ ऊसर और रेह। न कहीं तालाब, न पोखर, न नदी-नाला। खुला मैदान और खुली छूट ! जीयनपुर से करजौड़ा और पहाड़पुर की भी देखरेख की जा सकती थी।

मौजूदा जीयनपुर इन्हीं तीनों परिवारों का विस्तार है।

घूरी के चार बेटे हुए-अयोध्या, मथुरा, द्वारिका और हरगेन। फिर इन सबकी सन्तानें हुईं। द्वारिका के भी चार बेटे हुए-मकुनी, गोकुल, रामजग, और रामनाथ। इनमें जब बँटवारा हुआ तो रामनाथ के हिस्से तीस बीघे खेत आए। रामनाथ को खेतों से नहीं, सिर्फ भैंस से मतलब था ! सीधे-सीधे। अँगूठा टेक साधु स्वभाव के आदमी। घर-दुआर जगह-जायदाद किस काम के? सुबह-सुबह वे खूँटे से भैंस खोलते और सिवान में निकल जाते ! उनका सारा समय सिवान बाग-बगीचों और ताल-तलैयों में ही गुजरता ! इस तरह भैंस की सेवा करते-करते एक दिन वे अपनी जवानी में ही सुरलोक सिधार गए।

रह गए उनके बेटे-सागर, नागर, बाबूनन्दन और जयराम ! बचपन में ही जयरान के गुजरने के बावजूद ठाकुरों में सबसे बड़ा परिवार। छोटे-बड़े मिलाकर लगभग बीस सदस्य ! सिर्फ बड़ा, नहीं, सम्मानित भी। पूरे गाँव में यही एक घर था जिसमें खेती-बाड़ी के सिवा बाहर से भी हर महीने सोलह रुपए की आय थी। और यह आय थी प्राइमरी स्कूल के मास्टर की।

इन्हीं मास्टर का नाम नागर सिंह था और इन्हीं के बड़े बेटे हैं नामवर !

मास्टर तो दूसरे गाँवों में भी थे-प्राइमरी के ही नहीं मिडलस्कूल तक के लेकिन इनकी कुछ अपनी खासियत थी। ये कभी गाँव के पचड़ों झगड़ों में पड़े नहीं-अपने घरानों या पट्टीदार के हों या छोटी-बड़ी जातियों के ! अपने काम

से काम। न किसी की चुगली सुनना और न खाना। नाच तमाशे और हा-हा हू-बू से कोई मतलब नहीं। बच्चे चाहे जिस जाति के हों-उन्हें डाँट-डपट के स्कूल भिजवाते रहते थे। पाखंड, धूर्तता और झूठ से चिढ़ थी उन्हें। हुक्का पीते थे-घर पर भी और स्कूल में भी। हमेशा छड़ी या छाता लिए हुए चलते थे-नाक की सीध मेंय और सिर्फ चलते नहीं थे, देखते भी थे। बेहद नियमित और अनुशासित ! कभी नहीं पाया कि स्कूल खुला हो और वे घर के काम निपटाने में लगे हों। गिरस्ती का काम न वे करते थे और न कोई करने के लिए उनसे कहता था।

लोग उनसे डरते भी थे और उनका सम्मान भी करते थे।

'मास्टर' के एक मित्र थे विद्यार्थी जी। गाँधीवादी और सुराजी ! बाद में विधायक हुए कांग्रेस से ! उन दिनों एक-डेढ़ मील पूरब रहते थे हेतमपुर में। छुट्टियों में तो वहाँ जाने का नियम सा बना रखा था। शायद उन्हीं की देखा-देखी मारकीन छोड़कर खद्दर पहनना शुरू कर दिया था उन्होंने और नौकरी छोड़ने का मन भी बना लिया था।

जीयनपुर में शिक्षा इन्हीं मास्टर के जरिए आई थी !

मास्टर के बड़े भाई थे सागर सिंह सामाजिक, व्यवहार कुशल और हँसमुख। वही घर के मालिक थे ! छोटे भाई बाबूनन्दन गाने-बजाने वाले घुमन्तू और बैठकबाज थे। तीन भाई तीन रकम के थे। लेकिन ये तीनों भाई एक-दूसरे की बड़ी इज्जत करते थे। बथरी में होनेवाली औरतों की काँव-काँव-झाँव-झाँव से वे अप्रभावित रहते थे। उनकी मान्यता थी कि हम एक खून और एक संस्कार के हैं, लेकिन ये औरतें अलग-अलग घरों से आई हैं, इनके संस्कार अलग-अलग हैं, कि ये मिट्टी के सात घड़े हैं, पास-पास रहेंगे तो टकराएँगे ही, टकराएँगे तो आवाज होगी ही। इन पर कान देने की कोई जरूरत नहीं। उनकी यह समझ उनके व्यवहार में भी दिखाई पड़ती। वे अपने नहीं, दूसरे के बेटों को अपना बेटा मानते।

लेकिन औरतों में यह समझदारी नहीं थी। उनके बेटे ही उनके लिए सब कुछ थे। वे आपस में लड़ते तो उनकी माँएँ लड़ पड़तीं। बेटों के पीछे उनके गुट बनते बिगड़ते रहते ! और उसी के भरोसे वे अपने बच्चों के खाने-पीने, पहनने-ओढ़ने की अलग से व्यवस्था भी रखती थीं-निजी।

माँ की स्थिति थोड़ी अलग थी, इन औरतों के मुकाबले ! उसका मायका नहीं रह गया था। शादी के बाद ही वहाँ महामारी फैली थी और सारा कुछ खत्म हो गया था। उसकी माँ की बहन का घर ही उसका मायका था जहाँ वह कभी नहीं गई ! दूसरी मुश्किल यह थी कि सबके पति हमेशा खेत-खलिहान में लगे

रहते, लेकिन उसके पति को मुदर्रिसी से ही फुर्सत न थी। जब कभी मिलती भी थी तो उनकी दिलचस्पी ही न थी ! दुआर पर लेटे-लेटे टाँगें हिलाया करते। जबकि खाने में न वे कोई कसर छोड़ते, न उनके बेटे ! उन्हें तो कोई कुछ न बोलता लेकिन औरतें सारा गुस्सा माँ पर निकालती रहतीं।

सबसे बड़ी बात यह कि उसने अपने पति की कमाई का सुख भी कभी नहीं जाना। क्योंकि उनकी कमाई एक सरकारी खजाने से निकलती और परिवार के सरकारी खजाने में चली जाती।

एक दु:ख बराबर सालता रहा उसे पति पढ़ा-लिखा और वह अपढ़ गँवार। वह अक्सर कहा करती कि अगर उसके गाँव में स्कूल रहा होता तो जरूर पढ़ा होता। पढ़ने का सुख उसने तब जाना जब उसके बड़े बेटे को वजीफा मिला। उसी के पैसों में उसने बकरी खरीदी अपने बच्चों के दूध पीने के लिए। वह चाहती थी कि उसके बेटे खूब पढें-बड़ा आदमी बनें। लेकिन किसान का घर। काम ही काम। कटाई है, जुताई, हेंगाई है, दँवाई है, रोपनी है, बुवाई है, ईख छोलाई है, कोल्हुआड़ है, मोट-पुर है, दारी है, बिनिया है, खेतवाही है और नहीं तो दिन चढ़ आया है और भैंस अभी खूँटे पर ही है-काम से जी न चुराना हो तो काम ही काम है। उसे लगता कि सबको काम तभी सूझता है जब उसका बेटा पढ़ने बैठता है ! और दूसरों को लगता कि दूसरे लड़के बच्चे सुबह से खट रहे हैं और यह ससुर कापी गोंद रहे हैं। अरे, जो जरूरी है पहले वह देखो, किताब कहीं भागे थोड़े जा रही है? बीच में माँ के बोलने का मतलब होता- झगड़ा।

माँ इकहरे बदन की लम्बी, गोरी खूबसूरत और धर्मभीरू औरत थी-छोटी से छोटी बात पर मनौती मानने वाली ! खुशदिल और हँसमुख। गाने बजाने के हर त्यौहार और मौके पर हाजिर। किसी की भी अर्थी जाते देखकर रोना और किसी भी आँगन में विवाह का माँड़ो गड़ा देखकर गाना उसका स्वभाव था। रोना इस बात पर कि अब क्या होगा उस विधवा का? या माँ का? या खानदान का? गाना इस बात पर कि कितनी खुश होगी बेटी? उसके माँ-बाप? उसके घर वाले? उसे जब-जब ये याद आते गाती या रोती ! जिन्होंने उसे देखा था और बातें की थीं वे नामवर के नामवर होने का श्रेय माँ को देते हैं। उसने अपने बेटों की पढ़ाई के लिए अपना गहना-गुरिया सारा कुछ बेच डाला था।

अपने बेटे को लेकर पिता के सपने बड़े छोटे थे। उनके सपनों की ऊँचाई जीयनपुर के टीलों से अधिक न थी। इससे अधिक के बारे में सोच भी नहीं सकते थे वे ! वे चाहते थे कि बड़के जने (जीवन भर उनके मुँह से यही सुना

कभी नामवर नहीं) मिडल पास करने के बाद नार्मल की ट्रेनिंग करें और गाँव के आस-पास किसी स्कूल में मास्टर हो जाएँ। खेती बारी भी सँभालें और पढ़ाएँ भी।

यह नामवर को स्वीकर न हुआ और इस मामले में माँ बेटे के साथ थी।

मित्रों, इस लम्बी-लम्बी भूमिका के बाद मैं आपको सच्ची बात यह बताऊँ कि मैंने नामवर के बचपन का गाँव जरूर देखा है, उनका बचपन नहीं देखा। वे मुझसे दस साल बड़े थे। वे सन् 41 में जीयनपुर छोड़ गए जब मैं चार-पाँच साल का था ! बड़े भाई के नाम पर मैं सिर्फ रामजी को जानता था। माँ बताती रही होगी लेकिन मुझे कुछ भी याद नहीं।

धीरे-धीरे सुनना शुरू किया उनके बारे में-

कि पढ़ने में बड़े तेज थे,

कि इतिहास के पर्चे में किसी एक ही प्रश्न का उत्तर लिखते रहे थे, इसलिए मिडल में फेल हो गए।

कि कादिराबाद में कोई वाचनालय या लाइब्रेरी थी, जहाँ अक्सर जाते थे।

10

विश्वनाथ त्रिपाठी

डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी हिन्दी के वरिष्ठ आलोचक, कवि और गद्यकार हैं। प्रगतिशील विचारधारा से सम्बद्ध कट्टरतारहित आलोचक के रूप में डॉ. त्रिपाठी ने मुख्यत: मध्यकालीन साहित्य से लेकर समकालीन साहित्य तक की आलोचना में गहरी अंतर्दृष्टि का परिचय दिया है। जीवनी एवं संस्मरण लेखन के क्षेत्र में भी उन्होंने महत्त्वपूर्ण मुकाम हासिल किया है।

जीवन परिचय

विश्वनाथ त्रिपाठी का जन्म 16 फरवरी 1931को उत्तर प्रदेश के बस्ती जिला (अब सिद्धार्थनगर) के बिस्कोहर गाँव में हुआ था। शिक्षा पहले गाँव में, फिर बलरामपुर कस्बे में, उच्च शिक्षा कानपुर और बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी में। पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ से पी.एच.डी.। 15 नवंबर, 1958 को देवी सिंह बिष्ट महाविद्यालय नैनीताल में अध्यापक नियुक्त हुए। 8 अक्टूबर, 1959 को किरोड़ीमल कॉलेज दिल्ली में नियुक्ति हुई। बाद में दिल्ली विश्वविद्यालय के दक्षिण परिसर में अध्यापन। 15 फरवरी, 1996 को 65 वर्ष पूरे होने के बाद सेवानिवृत्त हो गये।

रचनात्मक परिचय

त्रिपाठी जी भाषा एवं साहित्य दोनों के गम्भीर अनुसंधित्सु रहे हैं। उनकी पहली पुस्तक 'हिन्दी आलोचना' आज भी अपनी मौलिकता, प्रांजलता, ईमानदार अभिव्यक्ति तथा सटीक एवं व्यापक विश्लेषण के कारण अपने क्षेत्र में अद्वितीय

है। त्रिपाठी जी ने बहुत नहीं लिखा है, परन्तु जो भी लिखा है, उसे पढ़ते हुए यह नि:संकोच कहा जा सकता है कि उनकी लिखी हर पंक्ति अत्यधिक महत्त्वपूर्ण और अवश्य ध्यातव्य है।

मध्ययुगीन काव्य के समकालीन समीक्षक

त्रिपाठी जी ने तुलसीदास तथा मीरा के काव्य पर एक-एक पुस्तक लिखी हैं।

तुलसीदास के सन्दर्भ में आचार्य शुक्ल से लेकर डॉ. रामविलास शर्मा जी तक के विवेचन के बाद कुछ नया और सार्थक जोड़ पाना निश्चय ही एक बड़ी चुनौती जैसी बात है, जिसे त्रिपाठी जी ने बखूबी निभाया है। कवि तुलसी का जो रूप इनकी पुस्तक के प्रकाशित हो जाने के बाद बना, वह पहले नहीं बन पाया था। और यह रूप कितना प्रामाणिक तथा हृदयग्राही है, इसकी झलक इस पुस्तक पर लिखे गये राजेन्द्र यादव के पत्र से बहुत अच्छी तरह मिल जाती है। पूर्व के सारे तर्कों के बावजूद तुलसीदास को अंधविश्वासी, रुढ़िवादी, अपरिवर्तनकामी आदि तथा राम के चरित्र को परम्परापोषक एवं गिलगिले मानने वाले राजेन्द्र यादव जैसे व्यक्ति ने भी यह पुस्तक पढ़कर लिखा है –

'पुस्तक में एक ऐसी अजीब-सी ऊष्मा, आत्मीयता और बाँध लेने वाली निश्छलता है कि मैं इसे पढ़ता ही चला गया। अच्छी बात यह लगी कि आपने न राम को मुकुट पहनाए, न तुलसी को अक्षत चन्दन लगाए– आपने तो अपने अवध को ही तुलसी के माध्यम से जिया है, वहाँ के लोगों, उनके आपसी सम्बन्धों और सन्दर्भों – बिना उन्हें महिमान्वित किए – को उकेरा है। सब कुछ आपने इतना मानवीय और स्पन्दनशील बना दिया है कि मैं तुलसी के प्रति अपने सारे पूर्वग्रह छोड़कर पढ़ता चला गया।'

'मीरा का काव्य' के तीन अध्यायों में ही लेखक ने वर्णव्यवस्था, नारी और भक्ति आन्दोलन के बहुआयामी (खूबियों-खामियों सहित) परिप्रेक्ष्य में 'मीरा' और उसके 'गिरधर नागर' के सम्बन्धों की – अत्यधिक वर्जना युक्त समाज में – यथासम्भव अभिव्यक्ति के माध्यम से यथास्थिति तथा सामाजिक गति की द्वन्द्वात्मकता की काव्यात्मकता का जो निरूपण किया है, उसे 'अनुपम' कहकर भी उसका महत्त्व रेखांकित नहीं किया जा सकता। उसे तो बस पढ़कर ही जाना जा सकता है। और पढ़ सकने के लिए किसी अतिरिक्त साहस की जरूरत नहीं है। बस शुरु कर देना है। फिर तो त्रिपाठी जी की समर्थ परन्तु सहज पारदर्शी

भाषा-शैली अपनी स्वच्छ निर्झर की स्वाभाविक वेगमयी धारा में बहाये लिए चली जाती है।

समकालीनता के प्रेरक पर्यवेक्षक

त्रिपाठी जी का अधिकांश लेखन अपने समय और समाज से जुड़ा हुआ लेखन है। चाहे वह हरिशंकर परसाई के व्यंग्य निबन्धों की विवेचना हो या केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं के मर्म का उद्घाटनय कहानी पर केन्द्रित कहानी-आलोचना के उच्चतम सीमान्त को स्पर्श करने वाली दोनों पुस्तकें हों या संस्मरण-जीवनी का बहुआयामी-बहुरंगी संसार – त्रिपाठी जी का लक्ष्य प्रायः विचलन की हर बिन्दुओं को पहचानते हुए, उससे बचकर तथा लक्षित लेखकों के बचने या बच पाने की कोशिश की प्रक्रिया को समझते-समझाते समाज को सही गति से उपयुक्त दिशा में अग्रसर कर सकने वाली मुकम्मल दृष्टि की सटीक पहचान ही है।

इस सबके लिए त्रिपाठी जी ने न तो पोलिमिक्स का सहारा लिया है, न ही किसी गुटबन्दी को स्वीकार किया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अन्तेवासी तथा प्रियपात्र रहते हुए भी, उनका कुछ मुद्दों पर प्रखर विरोध करने वाले रामविलास शर्मा से भी – उनकी असीम संभावनाओं, तथा युगान्तरकारी सृजनकार्यों के कारण – लगातार हार्दिक रूप से जुड़े रहेय तथा शर्मा जी के प्रति निरन्तर आदर प्रकट करते हुए भी उनके विरोध का कोई मौका न गँवाने वाले नामवर सिंह के प्रति भी उनकी अदम्य जिज्ञासाओं के कारण बहुपठनीयता से बहुमुखी जानकारियों, साहित्य की सटीक पहचान तथा आलोचना के 'सचल विश्वविद्यालयी रूप' के कारण हमेशा हार्दिक लगाव बनाये ही रहे हैं। अन्यथा गुरु-शिष्य का सम्बन्ध अथवा सहयोग-सहवर्तिता तथा मैत्री भी आज के युग में कब तक और कितना टिक पाते हैं!

संपादित कृतियों में भी डॉ. त्रिपाठी ने पूरी निष्ठा एवं गंभीरता से कार्य किया है। डॉ. रामविलास शर्मा पर केंद्रित वसुधा के विशेषांक के संदर्भ में मधुरेश का मानना है कि 'उनके संपादन में वसुधा का रामविलास शर्मा पर केंद्रित अंक अरुण प्रकाश के सहयोग से, संभवतः रामविलास शर्मा का सर्वाधिक विश्वसनीय मूल्यांकन है।'

हिन्दी कहानी-आलोचना का शिखर

हिन्दी कहानी-आलोचना के क्षे> में सुरेन्द्र चौधरी के बाद निरूसन्देह डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी द्वितीय शिखर आलोचक हैं। सुरेन्द्र चौधरी की तरह ही त्रिपाठी जी ने भी बहुत नहीं लिखा है, और विवेचन के लिए किसी एक पूरे दौर या एक कहानीकार को भी समग्रता में नहीं लिया है। उन्होंने उन्हीं कहानियों पर लिखा है, जिसने अपनी रचनात्मक सामर्थ्य के कारण उनसे लिखवा लिया है। यह एक दृष्टि से सीमा है तो दूसरी दृष्टि से इसी कारण वैसा लेखन सम्भव हो पाया है, जो कई मायने में अद्वितीय है। जब त्रिपाठी जी की कहानी-आलोचना की पहली पुस्तक 'कुछ कहानियाँ – कुछ विचार' प्रकाशित हुई थी तो पुस्तक-समीक्षकों द्वारा उक्त सीमा पर जोर देकर 'सीमाओं में बँधी आलोचना' के रूप में कुछ प्रशंसा, कुछ निन्दा की बहुप्रचलित पद्धति के तहत ही समीक्षा की गयी थी। स्वाभाविक है कि अधिकांशत: समीक्षा देखकर पुस्तक पढ़ने वाले हिन्दी के पाठक लम्बे समय तक पुस्तक से ही वंचित रह गये, तो वैशिष्ट्य से कैसे परिचित होते! जबकि इस पुस्तक के बारे में स्वयं डॉ. नामवर सिंह का स्पष्ट कथन है –

'कुछ कहानियाँ रू कुछ विचार' नाम की पुस्तक कहानी पर लिखी हुई बहुत गम्भीर और बहुत महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। उसमें अमरकान्त पर, फणीश्वरनाथ रेणु पर, शानी पर, शेखर जोशी पर, ज्ञानरंजन पर इतना अच्छा लिखा है कि मैंने कहीं और देखा नहीं, मैं खुद नहीं लिख सका। लिख भी नहीं सकता हूँ, यह भी बताए देता हूँ।'

इस पुस्तक पर विचार करते हुए इसके अन्तिम दो आलेखों के संदर्भ में डॉ. निर्मला जैन का कहना है कि–

अन्तिम दो 'समकालीन कहानी–कुछ विचार' और 'बदलते समय के रूपश, समकालीन कथा-परिदृश्य के सम्बन्ध में विश्वनाथ त्रिपाठी की समझ और विश्लेषण-क्षमता दोनों का प्रमाण हैं। 'पूर्वकथन' में उन्होंने लिखा है कि 'रचना के कुछ पोर होते हैं, जैसे बाँस या गन्ने के, जिन्हें फोड़ने में अतिरिक्त सावधानी की जरूरत पड़ती है।' कहना न होगा कि लेखक के पास इन 'पोरों' को पहचानने वाली मेधा भी है और उन्हें 'फोड़ने' का कौशल भी जिसका प्रयोग व सूत्रवत् छोटे-छोटे वाक्यों में बड़े सहज गद्य-विन्यास में करते चलते हैं। इन दोनों लेखों के माध्यम से पाठक उस दौर के पूरे कहानी-परिदृश्य की खूबियों

और खामियों को भलीभांति पहचान सकता है। सूत्रों में विश्वनाथ जी ने उस दौर के अधिकांश कहानीकारों पर महत्त्वपूर्ण टिप्पणियाँ की हैं। सार्थक सूत्रों में मूल्यांकनपरक निर्णय देते चलना उनकी आलोचना की खूबी है।'

इस कड़ी की दूसरी पुस्तक 'कहानी के साथ-साथ' उसी ढंग और उसी सामर्थ्य के साथ हाल में (2016 में) प्रकाशित हुई है, जिसके अधिकांश आलेख डॉ. कमला प्रसाद द्वारा प्रबल आग्रह से प्रतिश्रुत करवाकर 'प्रगतिशील वसुधा' के लिए लिखवाये गये थे, तथा उसीके विभिन्न अंकों में प्रकाशित भी हुए थे।

जीवनी का एक और मानदंड

'आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का पुण्य स्मरण' (उपशीर्षक) के रूप में लिखित उनकी पुस्तक व्योमकेश दरवेश वस्तुतः आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की जीवनी है। यह हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में अब तक लिखी गयी तीन सर्वश्रेष्ठ जीवनियों – कलम का सिपाही, निराला की साहित्य साधना (जीवनी खण्ड) तथा आवारा मसीहा – के बाद उसी कड़ी में चौथी श्रेष्ठ जीवनी है। इस पुस्तक की एक अतिरिक्त विशेषता यह है कि इसमें 'रचना और रचनाकार' शीर्षक के अन्तर्गत द्विवेदी जी पर त्रिपाठी जी द्वारा लिखे गये आलोचनात्मक आलेख भी एकत्र संकलित हैं। इस खण्ड को डॉ. नामवर सिंह द्विवेदी जी पर लिखी गयी आलोचनाओं में अद्वितीय मानते हैं तथा पूरी पुस्तक को मैनेजर पाण्डेय एक शानदार जीवनी के साथ-साथ त्रिपाठी जी की आलोचनात्मक क्षमता का प्रमाण भी मानते हैं।

प्रकाशित कृतियाँ

हिन्दीआलोचना–1970 (राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली)

लोकवादी तुलसीदास - 1974 (राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली)

प्रारम्भिक अवधी - 1975

मीरा का काव्य - 1979 (1989 में वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली से पुर्नप्रकाशित)

हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास - 1986 (2003 में हिन्दी साहित्य का इतिहास – सामान्य परिचय नाम से पुनः प्रकाशित)

देश के इस दौर में (परसाई केन्द्रित) - 1989 (राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली)

हरिशंकर परसाई (विनिबंध) - 2007 (साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली)

कुछ कहानियाँ : कुछ विचार - 1998 (राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली)

पेड़ का हाथ (केदारनाथ अग्रवाल केन्द्रित) - 2002 (वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली)

केदारनाथ अग्रवाल का रचना लोक - (प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, नयी दिल्ली)

जैसा कह सका (कविता संकलन) 2014 में साहित्य भंडार, चाहचंद रोड, इलाहाबाद से प्रकाशित 'प्रेमचन्द बिस्कोहर में' में समाहित,

नंगातलाई का गाँव (स्मृति-आख्यान) - 2004 (राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली)

गंगा स्नान करने चलोगे (संस्मरण) - 2006 (भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली)

अपना देस-परदेस (विविध विषयक आलेख एवं टिप्पणियाँ) - 2010 (स्वराज प्रकाशन, नयी दिल्ली)

व्योमकेश दरवेश (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की जीवनी एवं आलोचना) - 2011 (राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली)

गुरु जी की खेती-बारी (संस्मरण) - 2015 (राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली)

उपन्यास का अन्त नहीं हुआ है - 2015 (साहित्य भंडार, चाहचंद रोड, इलाहाबाद)

कहानी के साथ-साथ - 2016 (वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली)

आलोचक का सामाजिक दायित्व - 2016 (साहित्य भंडार, चाहचंद रोड, इलाहाबाद)

संपादन कार्य

1. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के साथ अद्दहमाण (अब्दुल रहमान) के अपभ्रंश काव्य सन्देश रासक का संपादन एवं टीका (राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली से)
2. कविताएँ 1963,

3. कविताएँ 1964,
4. कविताएँ 1965 (तीनों अजित कुमार के साथ)
5. हिन्दी के प्रहरी रू रामविलास शर्मा (अरुण प्रकाश के साथ– वसुधा अंक–51, जुलाई–सितंबर 2001, 'रामविलास शर्मा विशेषांक' का पुस्तकीय रूप, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली से)
6. चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' – प्रतिनिधि संकलन (नेशनल बुक ट्रस्ट)
7. केदारनाथ अग्रवाल – संकलित कविताएँ (नेशनल बुक ट्रस्ट)
8. मध्यकालीन हिन्दी काव्य

11

सुमित्रानन्दन पन्त

सुमित्रानंदन पंत हिंदी साहित्य में छायावादी युग के चार प्रमुख स्तंभों में से एक हैं। इस युग को जयशंकर प्रसाद, महादेवी वर्मा, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' और रामकुमार वर्मा जैसे कवियों का युग कहा जाता है। उनका जन्म कौसानी बागेश्वर में हुआ था। झरना, बर्फ, पुष्प, लता, भ्रमर-गुंजन, उषा-किरण, शीतल पवन, तारों की चुनरी ओढ़े गगन से उतरती संध्या ये सब तो सहज रूप से काव्य का उपादान बने। निसर्ग के उपादानों का प्रतीक व बिम्ब के रूप में प्रयोग उनके काव्य की विशेषता रही। उनका व्यक्तित्त्व भी आकर्षण का केंद्र बिंदु था। गौर वर्ण, सुंदर सौम्य मुखाकृति, लंबे घुंघराले बाल, सुगठित शारीरिक सौष्ठव उन्हें सभी से अलग मुखरित करता था।

सुमित्रनन्दन पन्त का जन्म बागेश्वर जिले के कौसानी नामक ग्राम में 20 मई 1900 ई. को हुआ। जन्म के छह घंटे बाद ही उनकी माँ का निधन हो गया। उनका लालन-पालन उनकी दादी ने किया। उनका नाम गोसाई दत्त रखा गया। वह गंगादत्त पंत की आठवीं संतान थे। 1910 में शिक्षा प्राप्त करने गवर्नमेंट हाईस्कूल अल्मोड़ा गये। यहीं उन्होंने अपना नाम गोसाई दत्त से बदलकर सुमित्रनंदन पंत रख लिया। 1918 में मँझले भाई के साथ काशी गये और क्वींस कॉलेज में पढ़ने लगे। वहाँ से हाईस्कूल परीक्षा उत्तीर्ण कर म्योर कालेज में पढ़ने के लिए इलाहाबाद चले गए। 1921 में असहयोग आंदोलन के दौरान महात्मा गांधी के भारतीयों से अंग्रेजी विद्यालयों, महाविद्यालयों, न्यायालयों एवं अन्य सरकारी कार्यालयों का बहिष्कार करने के आहवान पर उन्होंने महाविद्यालय छोड़ दिया और घर पर ही हिन्दी, संस्कृत, बँगला और अंग्रेजी भाषा-साहित्य का

अध्ययन करने लगे। इलाहाबाद में ही उनकी काव्यचेतना का विकास हुआ। कुछ वर्षों के बाद उन्हें घोर आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। कर्ज से जूझते हुए पिता का निधन हो गया। कर्ज चुकाने के लिए जमीन और घर भी बेचना पड़ा। इन्हीं परिस्थितियों में वह मार्क्सवाद की ओर उन्मुख हुये। 1931 में कुँवर सुरेश सिंह के साथ कालाकांकर, प्रतापगढ़ चले गये और अनेक वर्षों तक वहीं रहे। महात्मा गाँधी के सान्निध्य में उन्हें आत्मा के प्रकाश का अनुभव हुआ। 1938 में प्रगतिशील मासिक पत्रिका 'रूपाभ' का सम्पादन किया। श्री अरविन्द आश्रम की यात्रा से आध्यात्मिक चेतना का विकास हुआ। 1950 से 1957 तक आकाशवाणी में परामर्शदाता रहे। 1958 में 'युगवाणी' से 'वाणी' काव्य संग्रहों की प्रतिनिधि कविताओं का संकलन 'चिदम्बरा' प्रकाशित हुआ, जिस पर 1968 में उन्हें 'भारतीय ज्ञानपीठ' पुरस्कार प्राप्त हुआ। 1960 में 'कला और बूढ़ा चाँद' काव्य संग्रह के लिए 'साहित्य अकादमी पुरस्कार' प्राप्त हुआ। 1961 में 'पद्मभूषण' की उपाधि से विभूषित हुये। 1964 में विशाल महाकाव्य 'लोकायतन' का प्रकाशन हुआ। कालान्तर में उनके अनेक काव्य संग्रह प्रकाशित हुए। वह जीवन-पर्यन्त रचनारत रहे। अविवाहित पंत जी के अंतस्थल में नारी और प्रकृति के प्रति आजीवन सौन्दर्यपरक भावना रही। उनकी मृत्यु 28 दिसम्बर 1977 को हुई।

साहित्य सृजन

सात वर्ष की उम्र में, जब वे चौथी कक्षा में ही पढ़ रहे थे, उन्होंने कविता लिखना शुरु कर दिया था। 1918 के आसपास तक वे हिंदी के नवीन धारा के प्रवर्तक कवि के रूप में पहचाने जाने लगे थे। इस दौर की उनकी कविताएं वीणा में संकलित हैं। 1926 में उनका प्रसिद्ध काव्य संकलन 'पल्लव' प्रकाशित हुआ। कुछ समय पश्चात वे अपने भाई देवीदत्त के साथ अल्मोड़ा आ गये। इसी दौरान वे मार्क्स व फ्रायड की विचारधारा के प्रभाव में आये। 1938 में उन्होंने 'रूपाभ' नामक प्रगतिशील मासिक पत्र निकाला। शमशेर, रघुपति सहाय आदि के साथ वे प्रगतिशील लेखक संघ से भी जुडे रहे। वे 1950 से 1957 तक आकाशवाणी से जुडे रहे और मुख्य-निर्माता के पद पर कार्य किया। उनकी विचारधारा योगी अरविन्द से प्रभावित भी हुई जो बाद की उनकी रचनाओं 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' में देखी जा सकती है। "वाणी" तथा "पल्लव" में संकलित उनके छोटे गीत विराट व्यापक सौंदर्य तथा पवित्रता से साक्षात्कार कराते हैं। "युगांत"

की रचनाओं के लेखन तक वे प्रगतिशील विचारधारा से जुडे प्रतीत होते हैं। "युगांत" से "ग्राम्या" तक उनकी काव्ययात्र प्रगतिवाद के निश्चित व प्रखर स्वरों की उद्घोषणा करती है। उनकी साहित्यिक यात्रा के तीन प्रमुख पड़ाव हैं-प्रथम में वे छायावादी हैं, दूसरे में समाजवादी आदर्शों से प्रेरित प्रगतिवादी तथा तीसरे में अरविन्द दर्शन से प्रभावित अध्यात्मवादी। 1907 से 1918 के काल को स्वयं उन्होंने अपने कवि-जीवन का प्रथम चरण माना है। इस काल की कविताएँ वाणी में संकलित हैं। सन् 1922 में उच्छ्वास और 1926 में पल्लव का प्रकाशन हुआ। सुमित्रानंदन पंत की कुछ अन्य काव्य कृतियाँ हैं - ग्रन्थि, गुंजन, ग्राम्या, युगांत, स्वर्णकिरण, स्वर्णधूलि, कला और बूढ़ा चाँद, लोकायतन, चिदंबरा, सत्यकाम आदि। उनके जीवनकाल में उनकी 28 पुस्तकें प्रकाशित हुईं, जिनमें कविताएं, पद्य-नाटक और निबंध शामिल हैं। पंत अपने विस्तृत वांग्य में एक विचारक, दार्शनिक और मानवतावादी के रूप में सामने आते हैं किंतु उनकी सबसे कलात्मक कविताएं 'पल्लव' में संगृहीत हैं, जो 1918 से 1925 तक लिखी गई 32 कविताओं का संग्रह है। इसी संग्रह में उनकी प्रसिद्ध कविता 'परिवर्तन' सम्मिलित है। 'तारापथ' उनकी प्रतिनिधि कविताओं का संकलन है। उन्होंने ज्योत्स्ना नामक एक रूपक की रचना भी की है। उन्होंने मधुज्वाल नाम से उमर खय्याम की रुबाइयों के हिंदी अनुवाद का संग्रह निकाला और डॉ. हरिवंश राय बच्चन के साथ संयुक्त रूप से खादी के फूल नामक कविता संग्रह प्रकाशित करवाया।

विचारधारा

उनका संपूर्ण साहित्य 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के आदर्शों से प्रभावित होते हुए भी समय के साथ निरंतर बदलता रहा है। जहां प्रारंभिक कविताओं में प्रकृति और सौंदर्य के रमणीय चित्र मिलते हैं वहीं दूसरे चरण की कविताओं में छायावाद की सूक्ष्म कल्पनाओं व कोमल भावनाओं के और अंतिम चरण की कविताओं में प्रगतिवाद और विचारशीलता के। उनकी सबसे बाद की कविताएं अरविंद दर्शन और मानव कल्याण की भावनाओं से ओतप्रोत हैं। पंत परंपरावादी आलोचकों और प्रगतिवादी तथा प्रयोगवादी आलोचकों के सामने कभी नहीं झुके। उन्होंने अपनी कविताओं में पूर्व मान्यताओं को नकारा नहीं। उन्होंने अपने ऊपर लगने वाले आरोपों को 'नम्र अवज्ञा' कविता के माध्यम से खारिज किया। वह कहते थे 'गा कोकिला संदेश सनातन, मानव का परिचय मानवपन।

पुरस्कार व सम्मान

हिंदी साहित्य सेवा के लिए उन्हें पद्मभूषण (1961), ज्ञानपीठ (1968), साहित्य अकादमी, तथा सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार जैसे उच्च श्रेणी के सम्मानों से अलंकृत किया गया। सुमित्रानंदन पंत के नाम पर कौसानी में उनके पुराने घर को, जिसमें वह बचपन में रहा करते थे, 'सुमित्रानंदन पंत वीथिका' के नाम से एक संग्रहालय के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है। इसमें उनके व्यक्तिगत प्रयोग की वस्तुओं जैसे कपड़ों, कविताओं की मूल पांडुलिपियों, छायाचित्रों, पत्रों और पुरस्कारों को प्रदर्शित किया गया है। इसमें एक पुस्तकालय भी है, जिसमें उनकी व्यक्तिगत तथा उनसे संबंधित पुस्तकों का संग्रह है।

स्मृति विशेष

उत्तराखण्ड में कुमायूँ की पहाड़ियों पर बसे कौसानी गांव में, जहाँ उनका बचपन बीता था, वहां का उनका घर आज 'सुमित्र नंदन पंत साहित्यिक वीथिका' नामक संग्रहालय बन चुका है। इसमें उनके कपड़े, चश्मा, कलम आदि व्यक्तिगत वस्तुएं सुरक्षित रखी गई हैं। संग्रहालय में उनको मिले ज्ञानपीठ पुरस्कार का प्रशस्तिपत्र, हिंदी साहित्य सम्मेलन द्वारा मिला साहित्य वाचस्पति का प्रशस्तिपत्र भी मौजूद है। साथ ही उनकी रचनाएं लोकायतन, आस्था आदि कविता संग्रह की पांडुलिपियां भी सुरक्षित रखी हैं। कालाकांकर के कुंवर सुरेश सिंह और हरिवंश राय बच्चन से किये गये उनके पत्र व्यवहार की प्रतिलिपियां भी यहां मौजूद हैं।

संग्रहालय में उनकी स्मृति में प्रत्येक वर्ष पंत व्याख्यान माला का आयोजन होता है। यहाँ से 'सुमित्रानंदन पंत व्यक्तित्त्व और कृतित्त्व' नामक पुस्तक भी प्रकाशित की गई है। उनके नाम पर इलाहाबाद शहर में स्थित हाथी पार्क का नाम 'सुमित्रानंदन पंत बाल उद्यान' कर दिया गया है।

प्रारम्भिक जीवन

कवि के बचपन का नाम 'गुसाईं दत्त' था। स्लेटी छतों वाले पहाड़ी घर, आंगन के सामने आड़ू, खुबानी के पेड़, पक्षियों का कलरव, सर्पिल पगडण्डियां, बांज, बुरांश व चीड़ के पेड़ों की बयार व नीचे दूर दूर तक मखमली कालीन सी पसरी कत्यूर घाटी व उसके उपर हिमालय के उत्तंग शिखरों और दादी से सुनी कहानियों व शाम के समय सुनायी देने वाली आरती की स्वर लहरियों ने

गुसाईं दत्त को बचपन से ही कवि हृदय बना दिया था। क्योंकि जन्म के छरू घण्टे बाद ही इनकी माँ का निधन हो गया था, इसीलिए प्रकृति की यही रमणीयता इनकी माँ बन गयी। प्रकृति के इसी ममतामयी छांव में बालक गुसाईं दत्त धीरे- धीरे यहां के सौन्दर्य को शब्दों के माध्यम से कागज में उकेरने लगा। पिता 'गंगादत्त' उस समय कौसानी चाय बगीचे के मैनेजर थे। उनके भाई संस्कृत व अंग्रेजी के अच्छे जानकार थे, जो हिन्दी व कुमाँऊनी में कविताएं भी लिखा करते थे। यदाकदा जब उनके भाई अपनी पत्नी को मधुर कंठ से कविताएं सुनाया करते तो बालक गुसाईं दत्त किवाड़ की ओट में चुपचाप सुनता रहता और उसी तरह के शब्दों की तुकबन्दी कर कविता लिखने का प्रयास करता। बालक गुसाईं दत्त की प्राइमरी तक की शिक्षा कौसानी के 'वर्नाक्यूलर स्कूल' में हुई। इनके कविता पाठ से मुग्ध होकर स्कूल इंस्पैक्टर ने इन्हें उपहार में एक पुस्तक दी थी। ग्यारह साल की उम्र में इन्हें पढाई के लिये अल्मोड़ा के 'गवर्नमेंट हाईस्कूल' में भेज दिया गया। कौसानी के सौन्दर्य व एकान्तता के अभाव की पूर्ति अब नगरीय सुख वैभव से होने लगी। अल्मोड़ा की खास संस्कृति व वहां के समाज ने गुसाईं दत्त को अन्दर तक प्रभावित कर दिया। सबसे पहले उनका ध्यान अपने नाम पर गया। और उन्होंने लक्ष्मण के चरित्र को आदर्श मानकर अपना नाम गुसाईं दत्त से बदल कर 'सुमित्रानंदन' कर लिया। कुछ समय बाद नेपोलियन के युवावस्था के चित्र से प्रभावित होकर अपने लम्बे व घुंघराले बाल रख लिये।

साहित्यिक परिचय

अल्मोड़ा में तब कई साहित्यिक व सांस्कृतिक गतिविधियां होती रहती थीं जिसमें पंत अक्सर भाग लेते रहते। स्वामी सत्यदेव जी के प्रयासों से नगर में 'शुद्ध साहित्य समिति' नाम से एक पुस्तकालय चलता था। इस पुस्तकालय से पंत जी को उच्च कोटि के विद्वानों का साहित्य पढ़ने को मिलता था। कौसानी में साहित्य के प्रति पंत जी में जो अनुराग पैदा हुआ, वह यहां के साहित्यिक वातावरण में अब अंकुरित होने लगा। कविता का प्रयोग वे सगे सम्बन्धियों को पत्र लिखने में करने लगे। शुरुआती दौर में उन्होंने 'बागेश्वर के मेले', 'वकीलों के धनलोलुप स्वभाव' व 'तम्बाकू का धुंआ' जैसी कुछ छुटपुट कविताएं लिखी। आठवीं कक्षा के दौरान ही उनका परिचय प्रख्यात नाटककार गोविन्द बल्लभ पंत, 'यामाचरण दत्त पंत, इलाचन्द्र जोशी व हेमचन्द्र जोशी से हो गया था। अल्मोड़ा से तब हस्तलिखित पत्रिका 'सुधाकर व 'अल्मोड़ा अखबार' नामक पत्र निकलता था

जिसमें वे कविताएं लिखते रहते। अल्मोड़ा में पंत जी के घर के ठीक उपर स्थित गिरजाघर की घण्टियों की आवाज उन्हें अत्यधिक सम्मोहित करती थीं। अकसर प्रत्येक रविवार को वे इस पर एक कविता लिखते। 'गिरजे का घण्टा' शीर्षक से उनकी यह कविता सम्भवत: पहली रचना है-

सुमित्रानंदन पंत कविता पढ़ते हुए
नभ की उस नीली चुप्पी पर घण्टा है एक टंगा सुन्दर,
जो घड़ी घड़ी मन के भीतर कुछ कहता रहता बज बज कर।

दुबले पतले व सुन्दर काया के कारण पंत जी को स्कूल के नाटकों में अधिकतर स्त्री पात्रों का अभिनय करने को मिलता। 1916 में जब वे जाड़ों की छुट्टियों में कौसानी गये तो उन्होंने 'हार' शीर्षक से 200 पृष्ठों का 'एक खिलौना' उपन्यास लिख डाला। जिसमें उनके किशोर मन की कल्पना के नायक नायिकाओं व अन्य पात्रों की मौजूदगी थी। कवि पंत का किशोर कवि जीवन कौसानी व अल्मोड़ा में ही बीता था। इन दोनों जगहों का वर्णन भी उनकी कविताओं में मिलता है।

स्वतंत्रता संग्राम में योगदान

1921 के असहयोग आंदोलन में उन्होंने कॉलेज छोड़ दिया था, पर देश के स्वतंत्रता संग्राम की गंभीरता के प्रति उनका ध्यान 1930 के नमक सत्याग्रह के समय से अधिक केंद्रित होने लगा, इन्हीं दिनों संयोगवश उन्हें कालाकांकर में ग्राम जीवन के अधिक निकट संपर्क में आने का अवसर मिला। उस ग्राम जीवन की पृष्ठभूमि में जो संवेदन उनके हृदय में अंकित होने लगे, उन्हें वाणी देने का प्रयत्न उन्होंने युगवाणी (1938) और ग्राम्या (1940) में किया। यहाँ से उनका काव्य, युग का जीवन-संघर्ष तथा नई चेतना का दर्पण बन जाता है। स्वर्णकिरण तथा उसके बाद की रचनाओं में उन्होंने किसी आध्यात्मिक या दार्शनिक सत्य को वाणी न देकर व्यापक मानवीय सांस्कृतिक तत्त्व को अभिव्यक्ति दी, जिसमें अन्न प्राण, मन आत्मा, आदि मानव-जीवन के सभी स्वरों की चेतना को संयोजित करने का प्रयत्न किया गया।

काव्य एवं साहित्य की साधना

पंतजी संघर्षों के एक लंबे दौर से गुजरे, जिसके दौरान स्वयं को काव्य एवं साहित्य की साधना में लगाने के लिए उन्होंने अपनी आजीविका सुनिश्चित

करने का प्रयास किया। बहुत पहले ही उन्होंने यह समझ लिया था कि उनके जीवन का लक्ष्य और कार्य यदि कोई है, तो वह काव्य साधना ही है। पंत की भाव-चेतना महाकवि रबींद्रनाथ ठाकुर, महात्मा गांधी और श्री अरबिंदो घोष की रचनाओं से प्रभावित हुई। साथ ही कुछ मित्रों ने मार्क्सवाद के अध्ययन की ओर भी उन्हें प्रवृत किया और उसके विभिन्न सामाजिक-आर्थिक पक्षों को उन्होंने गहराई से देखा व समझा। 1950 में रेडियो विभाग से जुड़ने से उनके जीवन में एक ओर मोड़ आया। सात वर्ष उन्होंने 'हिन्दी चीफ प्रोड्यूसर' के पद पर कार्य किया और उसके बाद साहित्य सलाहकार के रूप में कार्यरत रहे।

युग प्रवर्तक कवि

सुमित्रनंदन पंत आधुनिक हिन्दी साहित्य के एक युग प्रवर्तक कवि हैं। उन्होंने भाषा को निखार और संस्कार देने, उसकी सामर्थ्य को उद्घाटित करने के अतिरिक्त नवीन विचार व भावों की समृद्धि दी। पंत सदा ही अत्यंत सशक्त और ऊर्जावान कवि रहे हैं। सुमित्रानंदन पंत को मुख्यत: प्रकृति का कवि माना जाने लगा। लेकिन पंत वास्तव में मानव-सौंदर्य और आध्यात्मिक चेतना के भी कुशल कवि थे।

रचनाकाल

पंत का पल्लव, ज्योत्सना तथा गुंजन का रचनाकाल काल (1926-33) उनकी सौंदर्य एवं कला-साधना का काल रहा है। वह मुख्यत: भारतीय सांस्कृतिक पुर्नजागरण की आदर्शवादिता से अनुप्राणिक थे। किंतु युगांत (1937) तक आते-आते बर्हिजीवन के खिंचाव से उनके भावात्मक दृष्टिकोण में परिवर्तन आए। पन्तजी की रचनाओं का क्षेत्र बहुविध और बहुआयामी है। आपकी रचनाओं सा संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-

महाकाव्य

'लोकायतन' कवि सुमित्रानन्दन पन्त का महाकाव्य है। कवि की विचारधारा और लोक-जीवन के प्रति उसकी प्रतिबद्धता इस रचना में अभिव्यक्त हुई है। इस पर कवि को 'सोवियत रूस' तथा उत्तर प्रदेश शासन से पुरस्कार प्राप्त हुआ है। पंत जी को अपने माता-पिता के प्रति असीम-सम्मान था। इसलिए उन्होंने अपने दो महाकाव्यों में से एक महाकाव्य 'लोकायतन' अपने पूज्य पिता को और दूसरा

महाकाव्य 'सत्यकाम' अपनी स्नेहमयी माता को, जो इन्हें जन्म देते ही स्वर्ग सिधार गई, समर्पित किया है। अपनी माँ सरस्वती देवी को स्मरण करते हुए इन्होंने अपना दूसरा महाकाव्य 'सत्यकाम' जिन शब्दों के साथ उन्हें समर्पित किया है, वे द्रष्टव्य हैं-

मुझे छोड़ अनगढ़ जग में तुम हुई अगोचर,
भाव-देह धर लौटीं माँ की ममता से भर !
वीणा ले कर में, शोभित प्रेरणा-हंस पर,
साध चेतना-तंत्रि रसौ वै सः झंकृत कर
खोल हृदय में भावी के सौन्दर्य दिगंतर !

काव्य-संग्रह

'वीणा', 'पल्लव' तथा 'गुंजन' छायावादी शैली में सौन्दर्य और प्रेम की प्रस्तुति है। 'युगान्त', युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में पन्तजी के प्रगतिवादी और यथार्थपरक भावों का प्रकाशन हुआ है। 'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्ण-धूलि', 'युगपथ', 'उत्तरा', 'अतिमा', तथा 'रजत-रश्मि' संग्रहों में अरविन्द-दर्शन का प्रभाव परिलक्षित होता है। इनके अतिरिक्त 'कला और बूढ़ा चाँद' तथा 'चिदम्बरा' भी आपकी सम्मानित रचनाएँ हैं। पन्तजी की अन्तर्दृष्टि तथा संवेदनशीलता ने जहाँ उनके भाव-पक्ष को गहराई और विविधता प्रदान की हैं, वहीं उनकी कल्पना-प्रबलता और अभिव्यक्ति-कौशल ने उनके कला-पक्ष को सँवारा है।

रचनाएँ

चिदंबरा 1958 का प्रकाशन है। इसमें युगवाणी (1937-38) से अतिमा (1948) तक कवि की 10 कृतियों से चुनी हुई 196 कविताएं संकलित हैं। एक लंबी आत्मकथात्मक कविता आत्मिका भी इसमें सम्मिलित है, जो वाणी (1957) से ली गई है। चिदंबरा पंत की काव्य चेतना के द्वितीय उत्थान की परिचायक है। प्रमुख रचनाएं इस प्रकार है-

कविताएं

वीणा (1919)
ग्रंथि (1920)
पल्लव (1926)

गुंजन (1932)
युगांत (1937)
युगवाणी (1938)
ग्राम्या (1940)
स्वर्णकिरण (1947)
कविताएं
स्वर्णधूलि (1947)
उत्तरा (1949)
युगपथ (1949)
चिदंबरा (1958)
कला और बूढ़ा चाँद (1959)
लोकायतन (1964)
गीतहंस (1969)।

कहानियाँ

पाँच कहानियाँ (1938)

उपन्यास

हार (1960),

आत्मकथात्मक संस्मरण

साठ वर्ष : एक रेखांकन (1963)।

साहित्यिक विशेषताएँ

छायावाद को मुख्यत: 'प्रेरणा का काव्य' मानने वाले इस कोमल-प्राण कवि ने 'हार' नामक उपन्यास के लेखन से अपनी रचना-यात्रा आरंभ की थी, जो 'मुक्ताभ' के प्रणयन तक जारी रही। मुख्यत: कवि-रूप में प्रसिद्ध होने के अलावा ये 'प्रथम कोटि के आलोचक, विचारक और गद्यकार' थे। इन्होंने मुक्तक, लंबी कविता, गद्य-नाटिका, पद्य-नाटिका, रेडियो-रूपक, एकांकी, उपन्यास, कहानी इत्यादि जैसी विभिन्न विधाओं में अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं और लोकायतन तथा सत्यकाम जैसे वृहद महाकाव्य भी लिखे हैं। विधाओं की

विविधता की दृष्टि से इनके द्वारा संपादित 'रूपाभ पत्रिका' (सन् 1938 ईस्वी) की संपादकीय टिप्पणियाँ और मधुज्वाल की भावानुवादाश्रित कविताएँ भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। आशय यह कि विभिन्न विधाओं में उपलब्ध इनके विपुल साहित्य को एक नातिदीर्घ रचना-संचयन में प्रस्तुत करना कठिन कार्य है। रचनाओं की विपुलता के साथ ही यह भी लक्ष्य करने योग्य है कि प्रकृति और नारी-सौंदर्य से रचनारंभ करनेवाले पंत जी मानव, सामान्य जन और समग्र मानवता की कल्याण-कामना से सदैव जुड़े रहे। इनकी मान्यता थी कि 'आने वाला मानव निश्चिय ही न पूर्व का होगा, न पश्चिम का।' ये सार्वभौम मनुष्यता के विश्वासी थे। अध्यात्म, अंतश्चेतना, प्रेम, समदिक् संचरण इत्यादि जैसा संकल्पनाओं से भावाकुल पंत के लेखन-चिन्तन का केन्द्र-बिन्दु हमेशा 'लोक' पक्ष ही रहा, जो लोकायतन के नामकरण से भी संकेतित होता है। पंत-काव्य का तृतीय चरण, जो 'नवीन सगुण' के नाम से चर्चित है और जिसे हम शुभैषणा-सदिच्छा का स्वस्ति-काव्य कह सकते हैं, इसी 'लोक' के मंगल पर केन्द्रित है।

प्रकृति-प्रेमी कवि

'उच्छास' से लेकर 'गुंजन' तक की कविता का सम्पूर्ण भावपट कवि की सौन्दर्य-चेतना का काल है। सौन्दर्य-सृष्टि के उनके प्रयत्न के मुख्य उपादान हैं- प्रकृति, प्रेम और आत्म-उद्‌बोधन। अल्मोड़ा की प्राकृतिक सुषमा ने उन्हें बचपन से ही अपनी ओर आकृष्ट किया। ऐसा प्रतीत होता है जैसे माँ की ममता से रहित उनके जीवन में मानो प्रकृति ही उनकी माँ हो। उत्तर प्रदेश के अल्मोड़ा के पर्वतीय अंचल की गोद में पले बढ़े पंत जी स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि उस मनोरम वातावरण का इनके व्यक्तित्त्व पर गंभीर प्रभाव पड़ा। कवि या कलाकार कहां से प्रेरणा ग्रहण करता है इस बारे में अपने विचार व्यक्त करते हुए पंत जी कहते हैं, संभवतः प्रेरणा के स्रोत भीतर न होकर अधिकतर बाहर ही रहते हैं। अपनी काव्य यात्रा में पन्त जी सदैव सौन्दर्य को खोजते नजर आते हें। शब्द, शिल्प, भाव और भाषा के द्वारा कवि पंत प्रकृति और प्रेम के उपादानों से एक अत्यंत सूक्ष्य और हृदयकारी सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं, किंतु उनके शब्द केवल प्रकृति-वर्णन के अंग न होकर एक दूसरे अर्थ की गहरी व्यंजना से संयोजित हैं। उनकी रचनाओं में छायावाद एवं रहस्यवाद का समावेश भी है। साथ ही शैली, कीट्स, टेनिसन आदि अंग्रेजी कवियों का प्रभाव भी है। मेरे मूक कवि को बाहर लाने का सर्वाधिक श्रेय मेरी जन्मभूमि के उस नैसर्गिक सौन्दर्य को है जिसकी

गोद में पलकर मैं बड़ा हुआ जिसने छुटपन से ही मुझे अपने रूपहले एकांत में एकाग्र तन्मयता के रश्मिदोलन में झुलाया, रिझाया तथा कोमल कण्ठ वन-पंखियों ने साथ बोलना कुहुकन सिखाया। पंतजी को जन्म के उपरांत ही मातृ-वियोग सहना पड़ा।

भाव पक्ष

पन्तजी के भाव-पक्ष का एक प्रमुख तत्त्व उनका मनोहारी प्रकृति चित्रण है। कौसानी की सौन्दर्यमयी प्राकृतिक छटा के बीच पन्तजी ने अपनी बाल-कल्पनाओं को रूपायित किया था। प्रकृति के प्रति उनका सहज आकर्षण उनकी रचनाओं के बहुत बड़े भाग को प्रभावित किए हुए है। प्रकृति के विविध आयामों और भंगिमाओं को हम पन्त के काव्य में रूपांकित देखते हैं। वह मानवी-कृता सहेली है, भावोद्दीपिका है, अभिव्यक्ति का आलम्बन है और अलंकृता प्रकृति-वधू भी है। इसके अतिरिक्त प्रकृति कवि पन्त के लिए उपदेशिका और दार्शनिक चिन्तन का आधार भी बनी है। कवि पन्त को सामान्यतया कोमल-कान्त भावनाओं और सौन्दर्य का कवि समझा जाता है, किन्तु जीवन के यथार्थों से सामना होने पर कवि में जीवन के प्रति यथार्थपरक और दार्शनिक दृष्टिकोण का विकास होता गया है। सर्वप्रथम पन्त मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित हुए, जिसका प्रभाव उनकी 'युगान्त', 'युगवाणी' आदि रचनाओं में परिलक्षित होता है। गाँधीवाद से भी आप प्रभावित दिखते हैं। 'लोकायतन' में यह प्रभाव विद्यमान है। महर्षि अरविन्द की विचारधारा का भी आप पर गहरा प्रभाव पड़ा। 'गीत-विहग' रचना इसका उदाहरण है। सौन्दर्य और उल्लास के कवि पन्त को जीवन का निराशामय विरूप-पक्ष भी भोगना पड़ा और इसकी प्रतिक्रिया 'परिवर्तन' नामक रचना में दृष्टिगत होती है-

अखिल यौवन के रंग उभार हड्डियों के हिलते कंकाल,
खोलता इधर जन्म लोचन मूँदती उधर मृत्यु क्षण-क्षण।

पन्तजी के काव्य में मानवतावादी दृष्टि को भी सम्मानित स्थान प्राप्त है। वह मानवीय प्रतिष्ठा और मानव-जाति के भावी विकास में दृढ़ विश्वास रखते हैं। 'द्रुमों की छाया' और 'प्रकृति की माया' को छोड़कर जो पन्त 'बाला के बाल-जाल' में 'लोचन उलझाने' को प्रस्तुत नहीं थे, वही मानव को विधाता की सुन्दरतम कृति स्वीकार करते हैं-

सुन्दर है विहग सुमन सुन्दर, मानव तुम सबसे सुन्दरतम।

वह चाहते हैं कि देश, जाति और वर्गों में विभाजित मनुष्य की केवल एक ही पहचान हो - मानव।

भाषा-शैली

कवि पन्त का भाषा पर असाधारण अधिकार है। भाव और विषय के अनुकूल मार्मिक शब्दावली उनकी लेखनी से सहज प्रवाहित होती है। यद्यपि पन्त की भाषा का एक विशिष्ट स्तर है फिर भी वह विषयानुसार परिवर्तित होती है। पन्तजी के काव्य में एकाधिक शैलियों का प्रयोग हुआ है। प्रकृति-चित्रण में भावात्मक, आलंकारिक तथा दृश्य विधायनी शैली का प्रयोग हुआ है। विचार-प्रधान तथा दार्शनिक विषयों की शैली विचारात्मक एवं विश्लेषणात्मक भी हो गई है। इसके अतिरिक्त प्रतीक-शैली का प्रयोग भी हुआ है। सजीव बिम्ब-विधान तथा ध्वन्यात्मकता भी आपकी रचना-शैली की विशेषताएँ हैं।

अलंकरण

पन्तजी ने परम्परागत एवं नवीन, दोनों ही प्रकार के अलंकारों का भव्यता से प्रयोग किया है। बिम्बों की मौलिकता तथा उपमानों की मार्मिकता हृदयहारिणी है। रूपक, उपमा, सांगरूपक, मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय तथा ध्वन्यार्थ-व्यंजना का आकर्षक प्रयोग आपने किया है।

छंद

पन्तजी ने परम्परागत छन्दों के साथ-साथ नवीन छंदों की भी रचना की है। आपने गेयता और ध्वनि-प्रभाव पर ही बल दिया है, मात्राओं और वर्णों के क्रम तथा संख्या पर नहीं। प्रकृति के चितेरे तथा छायावादी कवि के रूप में पन्तजी का स्थान निश्चय ही विशिष्ट है। हिन्दी की लालित्यपूर्ण और संस्कारित खड़ी बोली भी पन्तजी की देन है। पन्तजी विश्व-साहित्य में भी अपना स्थान बना गए हैं।

पुरस्कार

सुमित्रानंदन पंत को पद्म भूषण (1961) और ज्ञानपीठ पुरस्कार (1968) से सम्मानित किया गया। कला और बूढ़ा चाँद के लिए साहित्य अकादमी

पुरस्कार, लोकायतन पर 'सोवियत लैंड नेहरु पुरस्कार' एवं 'चिदंबरा' पर इन्हें 'भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार' प्राप्त हुआ।

संग्रहालय

उत्तराखंड राज्य के कौसानी में महाकवि पंत की जन्म स्थली को सरकारी तौर पर अधिग्रहीत कर उनके नाम पर एक राजकीय संग्रहालय बनाया गया है, जिसकी देखरेख एक स्थानीय व्यक्ति करता है। इस स्थल के प्रवेश द्वार से लगे भवन की छत पर महाकवि की मूर्ति स्थापित है। वर्ष 1990 में स्थापित इस मूर्ति का अनावरण वयोवृद्ध साहित्यकार तथा इतिहासवेत्ता पंडित नित्यनंद मिश्र द्वारा उनके जन्म दिवस 20 मई को किया गया था। महाकवि सुमित्रानंदन पंत का पैत्रक ग्राम यहां से कुछ ही दूरी पर हैय परन्तु वह आज भी अनजाना तथा तिरस्कृत है। संग्रहालय में महाकवि द्वारा उपयोग में लायी गयी दैनिक वस्तुएँ यथा शॉल, दीपक, पुस्तकों की अलमारी तथा महाकवि को समर्पित कुछ सम्मान-पत्र, पुस्तकें तथा हस्तलिपि सुरक्षित हैं।

मृत्यु

कौसानी चाय बागान के व्यवस्थापक के परिवार में जन्मे महाकवि सुमित्रानंदन पंत की मृत्यु 28 दिसम्बर, 1977 को इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश में हुई।

12

कृष्णा सोबती

कृष्णा सोबती मुख्यत: हिन्दी की आख्यायिका (फिक्शन) लेखिका थीं। उन्हें 1980 में साहित्य अकादमी पुरस्कार तथा 1996 में साहित्य अकादमी अध्येतावृत्ति से सम्मानित किया गया था। अपनी बेलाग कथात्मक अभिव्यक्ति और सौष्ठवपूर्ण रचनात्मकता के लिए जानी जाती हैं। उन्होंने हिंदी की कथा भाषा को विलक्षण ताजगी दी है। उनके भाषा संस्कार के घनत्व, जीवन्त प्रांजलता और संप्रेषण ने हमारे समय के कई पेचीदा सत्य उजागर किये हैं।

जीवन परिचय

कृष्णा सोबती का जन्म गुजरात में 18 फरवरी 1925 को हुआ था। भारत के विभाजन के बाद गुजरात का वह हिस्सा पाकिस्तान में चला गया है। विभाजन के बाद वे दिल्ली में आकर बस गयीं और तब से यहीं रहकर साहित्य-सेवा की उन्हें 1980 में 'जिन्दगीनामा' के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार मिला था। 1996 में उन्हें साहित्य अकादमी का फेलो बनाया गया जो अकादमी का सर्वोच्च सम्मान है। 2017 में इन्हें भारतीय साहित्य के सर्वोच्च सम्मान 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' से सम्मानित किया गया है। ये मुख्यत: कहानी लेखिका हैं। इनकी कहानियाँ 'बादलों के घेरे' नामक संग्रह में संकलित हैं। इन कहानियों के अतिरिक्त इन्होंने आख्यायिका (फिक्शन) की एक विशिष्ट शैली के रूप में विशेष प्रकार की लंबी कहानियों का सृजन किया है, जो औपन्यासिक प्रभाव उत्पन्न करती हैं। ऐ लड़की, डार से बिछुड़ी, यारों के यार, तिन पहाड़ जैसी कथाकृतियाँ अपने इस विशिष्ट आकार प्रकार के कारण उपन्यास के रूप में प्रकाशित भी हैं। इनका

निधन 25 जनवरी 2019 को एक लम्बी बीमारी के बाद सुबह साढ़े आठ बजे एक निजी अस्पपताल में हो गया।

प्रकाशित कृतियाँ

कहानी संग्रह

बादलों के घेरे - 1980
लम्बी कहानी (आख्यायिका/उपन्यासिका)-
डार से बिछुड़ी -1958
मित्रो मरजानी -1967
यारों के यार -1968
तिन पहाड़ -1968
ऐ लड़की -1991
जैनी मेहरबान सिंह -2007 (चल-चित्रीय पटकथाय 'मित्रो मरजानी' की रचना के बाद ही रचित, परन्तु चार दशक बाद 2007 में प्रकाशित)

उपन्यास

सूरजमुखी अँधेरे के -1972
जिन्दगीघ्नामा -1979
दिलोदानिश -1993
समय सरगम -2000
गुजरात पाकिस्तान से गुजरात हिंदुस्तान -2017 (निजी जीवन को स्पर्श करती औपन्यासिक रचना)

विचार-संवाद-संस्मरण

हम हशमत (तीन भागों में)
सोबती एक सोहबत
शब्दों के आलोक में
सोबती वैद संवाद
मुक्तिबोध – एक व्यक्तित्त्व सही की तलाश में -2017

लेखक का जनतंत्र –2018
मार्फत दिल्ली –2018
यात्रा–आख्यान–
बुद्ध का कमण्डल : लद्दाख

सम्मान एवं पुरस्कार

साहित्य अकादमी की महत्तर सदस्यता समेत कई राष्ट्रीय पुरस्कारों और अलंकरणों से शोभित कृष्णा सोबती ने पाठक को निज के प्रति सचेत और समाज के प्रति चौतन्य किया है। आपको हिंदी अकादमी, दिल्ली की ओर से वर्ष 2000–2001 के शलाका सम्मान से सम्मानित किया गया था। उन्हें वर्ष 2017 का 53वाँ ज्ञानपीठ पुरस्कार प्रदान करने की घोषणा भी की गई।

13

शंकर दयाल सिंह

शंकर दयाल सिंह भारत के राजनेता तथा हिन्दी साहित्यकार थे। वे राजनीति व साहित्य दोनों क्षेत्रों में समान रूप से लोकप्रिय थे। उनकी असाधारण हिन्दी सेवा के लिये उन्हें सदैव स्मरण किया जाता रहेगा। उनके सदाबहार बहुआयामी व्यक्तित्त्व में ऊर्जा और आनन्द का अजस्र स्रोत छिपा हुआ था। उनका अधिकांश जीवन यात्राओं में ही बीता और यह भी एक विचित्र संयोग ही है कि उनकी मृत्यु यात्रा के दौरान उस समय हुई जब वे अपने निवास स्थान पटना से भारतीय संसद के शीतकालीन अधिवेशन में अपनी भागीदारी सुनिश्चित करने दिल्ली आ रहे थे। नई-दिल्ली रेलवे स्टेशन पर 27 नवम्बर 1995 की सुबह ट्रेन से कहकहे लगाते हुए शंकर दयाल सिंह तो नहीं उतरे, अपितु बोझिल मन से उनके परिजनों ने उनके शव को उतारा।

जन्म और जीवन

बिहार के औरंगाबाद जिले के भवानीपुर गाँव में 27 दिसम्बर 1937 को प्रसिद्ध स्वतन्त्रता सेनानी, साहित्यकार व बिहार विधान परिषद के सदस्य स्व. कामताप्रसाद सिंह के यहाँ जन्मे बालक के माता-पिता ने अपने आराध्य देव शंकर की दया का प्रसाद समझ कर उसका नाम शंकर दयाल रखा जो जाति सूचक शब्द के संयोग से शंकर दयाल सिंह हो गया। छोटी उम्र में ही माता का साया सिर से उठ गया अत: दादी ने उनका पालन पोषण किया। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से स्नातक (बी.ए.) तथा पटना विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर (एम.ए.) की उपाधि (डिग्री) लेने के पश्चात 1966 में वह अखिल भारतीय

कांग्रेस कमेटी के सदस्य बने और 1971 में सांसद चुने गये। एक पाँव राजनीति के दलदल में सनता रहा तो दूसरा साहित्य के कमल की पांखुरियों को कुरेद-कुरेद कर उसका सौरभ लुटाता रहा। श्रीमती कानन बाला जैसी सुशीला प्राध्यापिका पत्नी, दो पुत्र - रंजन व राजेश तथा एक पुत्री - रश्मि और क्या चाहिये सब कुछ तो उन्हें अपने जीते जी मिल गया था, तिस पर मृत्यु भी मिली तो इतनी नीरव, इतनी शान्त कि शरीर को एक पल का भी कष्ट नहीं होने दिया। 27 नवम्बर 1995 की भोर में पटना से नई दिल्ली जाते हुए रेल यात्रा में टूण्डला रेलवे स्टेशन पर हृदय गति रुक जाने के कारण उनका प्राणान्त हो गया।

विविध कार्य

समाचार भारती के निदेशक पद से प्रारम्भ हुई शंकर दयाल सिंह की जीवन-यात्रा संसदीय राजभाषा समिति, दिल्ली पब्लिक लाइब्रेरी, भारतीय रेल परामर्श समिति, भारतीय अनुवाद परिषद, केन्द्रीय हिन्दी सलाहकार समिति जैसे अनेक पडावों को पार करती हुई देश-विदेश की यात्राओं का भी आनन्द लेती रही और अपने सहयात्रियों के साथ उन्मुक्त ठहाके लगाकर उनका रक्तवर्धन भी करती रही। और अन्त में उनकी यह यात्रा रेलवे के वातानुकूलित शयनयान में गहरी नींद सोते हुए 27 नवम्बर 1995 को उस समय समाप्त हो गयी जब उनके जन्म दिन की षाष्टिपूर्ति में मात्र एक मास शेष रह गया था। यदि 27 दिसम्बर 1995 के बाद भी उनकी यात्रा जारी रहती तो वे अपना 58वाँ जन्म-दिन उन्हीं ठहाकों के बीच मनाते जिसके लिये वे अपने मित्रों के बीच जाने जाते थे। उनकी एक विशेषता यह भी रही कि उन्होंने जीवन पर्यन्त भारतीय जीवन मूल्यों की रक्षा के साथ-साथ भारतीय संस्कृति का पोषण किया भले ही इसके लिये उन्हें कई बार उलझना भी पडा किन्तु अपने विशिष्ट व्यवहार के कारण वे उन तमाम वाधाओं पर एक अपराजेय योद्धा की तरह विजय पाते रहे।

राजनीति की धूप

शंकर दयाल सिंह लोकसभा व राज्यसभा दोनों के सदस्य रहे। किन्तु चूँकि मूलत: वे एक साहित्यकार थे। अत: राजनीति में होने वाले दाव पेंच उन्हें रास नहीं आते थे और वे उसकी तेज धूप से बचने के लिये बहुधा साहित्य का छाता तान लिया करते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि वे अपने लेखों में उन सबकी बखिया उधेड कर रख देते थे जो उनके शुद्ध अन्त:करण को नीति विरुद्ध लगते

थे। जैसे सरकार की ग्रामोत्थान के प्रति तटस्थता का भाव उन्हें सालता था तो वह संसद की चर्चाओं में तो अपनी बात रखते ही थे, विविध पत्र-पत्रिकाओं में लेख भी लिखते थे जिन्हें पढकर विरोधी-पक्ष खुश और सत्ता-पक्ष (कांग्रेस), जिसके वे स्वयं सांसद हुआ करते थे, नाखुश रहता था। देखा जाये तो राजनीति में, आज जहाँ प्रत्येक पार्टी ने केवल चाटुकारों की चण्डाल-चौकडी का मजमा जमा कर रखा है जिसके कारण राजनीति के तालाब में स्वच्छ जल की जगह कीचड़ ही कीचड़ नजर आ रही है। वहाँ के प्रदूषित वातावरण में शंकरदयाल सिंह सरीखे कमल की कमी वास्तव में खलती है। उन्होंने लगभग 25 लेख राजनीतिक उठापटक को लेकर ही लिखे, जो तत्कालीन समाचारों की सुर्खियाँ तो बने ही, पुस्तकाकार रूप में पुस्तकालयों में उपलब्ध भी हैं।

साहित्य की छाँव

जीवन को धूप-छाँव का खेल मानने वाले शंकर दयाल सिंह का यह मानना एक दम सही था कि जिस प्रकार प्रकृति अपना संतुलन अपने आप कर लेती है उसी प्रकार राजनीति में काम करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को साहित्यकार होना पहली योग्यता का मापदण्ड होना चाहिये। वे अपने से पूर्ववर्ती सभी दिग्गज राजनीतिक व्यक्तियों का उदाहरण प्रायः दिया करते थे और बताते थे कि वे सभी दिग्गज लोग साहित्यकार पहले थे बाद में राजनीतिकार या कुछ भी, जिसके कारण उनके जीवन में निरन्तर सन्तुलन बना रहा और वे देश के साथ कभी धोखा नहीं कर पाये। आज जिसे देखो वही राजनीति को व्यवसाय की तरह समझता है सेवा की तरह नहींय यही कारण है कि सर्वत्र अशान्ति का साम्राज्य है। हालात यह हैं कि आजकल राजनीति की धूप में नेताओं के पाँव कम, जनता के अधिक झुलस रहे हैं। उन्हीं के शब्दों में - 'मैंने स्वयं राजनीति से आसव ग्रहण कर उसकी मस्ती साहित्य में बिखेरी है। अनुभव वहाँ से लिये, अनुभूति यहाँ से। मरण वहाँ से वरण किया जीवन यहाँ से। वहाँ की धूप में जब-जब झुलसा, छाँव के लिये इस ओर भागा। लेकिन यह सही है कि धूप-छाँव का आनन्द लेता रहा, आँख-मिचौनी खेलता रहा।'

भाषा की भँवर में

भारतवर्ष को स्वतन्त्रता के पश्चात यदि कोई एक नीति एकजुट रख सकती थी तो वह केवल एक भाषागत राष्ट्रीय-नीति ही रख सकती थी, किन्तु हमारे

देश के कर्णधारों ने इस ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया अपितु एक के बजाय अनेक भाषाओं के भँवर-जाल में उलझाकर डूब मरने के लिये विवश कर दिया है। जब भारतीय स्वतंत्रता संग्राम अथवा हमारी आजादी का युद्ध एक भाषा हिन्दी के माध्यम से लड़ा गया, उसमें किसी भी प्रान्त-भाषा-भाषी ने यह अडंगा नहीं लगाया कि पहले उनकी भाषा सीखो तभी वे एकजुट होकर तुम्हारा साथ देंगे अन्यथा नहीं देंगे। इस तरह यदि करते तो क्या कभी 1947 में हिन्दुस्तान आजाद हो सकता था? कदापि नहीं। राष्ट्रभाषा तो एक ही हो सकती है अनेक तो नहीं हो सकतीं। यदि राष्ट्र-भाषायें एक के स्थान पर 15 या 20 कर दी जायेंगी तो निश्चित मानिये प्रान्तीयता का भाव प्रत्येक के मन में पैदा होगा और उसका दुष्परिणाम यह होगा कि यह राष्ट्र विखण्डन की ओर अग्रसर होगा, एकता की ओर नहीं।

यायावरी के अनुभव

शंकर दयाल सिंह चूँकि सांसद भी रहे और संसदीय कार्य-समितियों में उनकी पैठ भी बराबर बनी रही। अतएव उन्हें सरकारी संसाधनों के सहारे विभिन्न देशों व स्थानों की यात्रायें करने का सुख भी उपलब्ध हुआ। परन्तु उन्होंने वह सुख अकेले न उठाकर अपने साहित्यिक मित्रों को भी उपलब्ध कराया तथा लेखों के माध्यम से अपने पाठकों को भी पहुँचाया। सोवियत संघ की राजधानी मास्को से लेकर सूरीनाम और त्रिनिदाद तक की महत्वपूर्ण यात्राओं के वृतान्त पढकर हमें यह लगता ही नहीं कि शंकर दयाल सिंह हमारे बीच नहीं हैं। अपितु कभी-कभी तो ऐसा आभास-सा होता है जैसे वह हमारे इर्द-गिर्द घूमते हुए लट्टू की भाँति गतिमान इस भूमण्डल के चक्कर अभी भी लगा रहे हैं। पारिजात प्रकाशन, पटना से प्रथम बार सन् 1992 में प्रकाशित पुस्तक राजनीति की धूप रू साहित्य की छाँव में दिये गये उनकी यायावरी (घुमक्कड़ी वृत्ति) के अनुभव बडे ही रोचक हैं।

रचना संसार

सन 1977 से 'सोशलिस्ट भारत' में उनके लेख प्रकशित होने प्रारम्भ हुए जो सन 1992 तक अनवरत रूप से छपते ही रहे ऐसा उल्लेख उनकी बहुचर्चित पुस्तक राजनीति की धूप – साहित्य की छाँव में मिलता है। इसी उल्लेख के आगे दी गयी शंकर दयाल सिंह की प्रकाशित पुस्तकों की सूची इस प्रकार है–

- राजनीति की धूप–साहित्य की छाँव
- इमर्जेन्सी रू क्या सच, क्या झूठ
- परिवेश का सुख
- मैने इन्हें जाना
- यदा–कदा
- भीगी धरती की सोंधी गन्ध
- अपने आपसे कुछ बातें
- आइये कुछ दूर हम साथ चलें
- कहीं सुबह रू कहीं छाँव
- जनतन्त्र के कठघरे में
- जो साथ छोड गये
- भाषा और साहित्य
- मेरी प्रिय कहानियाँ
- एक दिन अपना भी
- कुछ बातें–कुछ लोग
- कितना क्या अनकहा
- पहली बारिस की छिटकती बूँदें
- बात जो बोलेगी
- मुरझाये फूल रू पंखहीन
- समय-सन्दर्भ और गाँधी
- समय-असमय
- यादों की पगडण्डियाँ
- कुछ ख्यालों में रू कुछ ख्वाबों में
- पास-पड़ोस की कहानियाँ
- भारत छोड़ो आन्दोलन

सम्मान व पुरस्कार

राष्ट्रभाषा हिन्दी के लिये शंकर दयाल सिंह ने आजीवन आग्रह भी किया, युद्ध भी लड़ा और यदा–कदा आहत भी हुए। इस सबके बावजूद उन्हें सन् 1993 में हिन्दी सेवा के लिये अनन्तगोपाल शेवडे हिन्दी सम्मान तथा सन् 1995 में गाडगिल राष्ट्रीय सम्मान से नवाजा गया। परन्तु इससे वे मानसिक रूप से पूर्णतः

सन्तुष्ट कभी नहीं हुए। निस्सन्देह शंकर दयाल सिंह पुरस्कार या सम्मान पाकर अपनी बोलती बन्द रखने वालों की श्रेणी के व्यक्ति नहीं, अपितु और अधिक प्रखरता से मुखर होने वालों की श्रेणी के व्यक्ति थे। यही कारण था कि प्रतिष्ठित लेखक के रूप में केन्द्र सरकार ने भले ही कोई पुरस्कार या सम्मान न दिया हो, जिसके वे वास्तविक रूप से अधिकारी थे, परन्तु पूरे भारतवर्ष से कई संस्थाओं, संगठनों व राज्य-सरकारों से उन्हें अनेको पुरस्कार प्राप्त हुए।

14

राजेन्द्र यादव

राजेन्द्र यादव हिन्दी के सुपरिचित लेखक, कहानीकार, उपन्यासकार व आलोचक होने के साथ-साथ हिन्दी के सर्वाधिक लोकप्रिय संपादक भी थे। नयी कहानी के नाम से हिन्दी साहित्य में उन्होंने एक नयी विधा का सूत्रपात किया। उपन्यासकार मुंशी प्रेमचन्द द्वारा सन् 1930 में स्थापित साहित्यिक पत्रिका हंस का पुनर्प्रकाशन उन्होंने प्रेमचन्द की जयन्ती के दिन 31 जुलाई 1986 को प्रारम्भ किया था। यह पत्रिका सन् 1953 में बन्द हो गयी थी। इसके प्रकाशन का दायित्व उन्होंने स्वयं लिया और अपने मरते दम तक पूरे 27 वर्ष निभाया।

28 अगस्त 1929 ई. को उत्तर प्रदेश के शहर आगरा में जन्मे राजेन्द्र यादव ने 1951 ई. में आगरा विश्वविद्यालय से एम.ए. की परीक्षा हिन्दी साहित्य में प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान के साथ उत्तीर्ण की। उनका विवाह सुपरिचित हिन्दी लेखिका मन्नू भण्डारी के साथ हुआ था। वे हिन्दी साहित्य की सुप्रसिद्ध हंस पत्रिका के सम्पादक थे। हिन्दी अकादमी, दिल्ली द्वारा राजेन्द्र यादव को उनके समग्र लेखन के लिये वर्ष 2003-04 का सर्वोच्च सम्मान (शलाका सम्मान) प्रदान किया गया था। 28 अक्टूबर 2013 की रात्रि को नई दिल्ली में 84 वर्ष की आयु में उनका निधन हुआ।

प्रकाशित पुस्तकें

कहानी-संग्रह

- देवताओं की मूर्तियाँ1951,
- खेल-खिलौने: 1953

- जहाँ लक्ष्मी कैद है: 1957
- अभिमन्यु की आत्महत्या: 1959
- छोटे-छोटे ताजमहल: 1961
- किनारे से किनारे तक: 1962
- टूटना: 1966,
- चौखटे तोड़ते त्रिकोण: 1987,
- ये जो आतिश गालिब (प्रेम कहानियाँ)रू 2008
- यहाँ तक: पड़ाव-1, पड़ाव-2(1989)
- वहाँ तक पहुँचने की दौड़, हासिल

उपन्यास

- सारा आकाश: 1955 (श्प्रेत बोलते हैं' के नाम से 1951 में)
- उखड़े हुए लोग: 1956
- कुलटा: 1958
- शह और मात: 1959
- अनदेखे अनजान पुल: 1963
- एक इंच मुस्कान (मन्नू भंडारी के साथ) 1963,
- मन्त्रविद्या 1967
- एक था शैलेन्द्र: 2007
- कविता-संग्रह
- आवाज तेरी है: 1960
- नाटक
- चेखव के तीन नाटक (सीगल, तीन बहनें, चेरी का बगीचा)।

अनुवाद

उपन्यास : टक्कर (चौखव), हमारे युग का एक नायक (लर्मन्तोव) प्रथम-प्रेम (तुर्गनेव), वसन्त-प्लावन (तुर्गनेव), एक मछुआ , एक मोती (स्टाइनबैक), अजनबी (कामू)- ये सारे उपन्यास 'कथा शिखर' के नाम से दो खण्डों में- 1994, नरक ले जाने वाली लिफ्ट: 2002, स्वस्थ आदमी के बीमार विचार– 2012।

समीक्षा-निबन्ध

कहानी: स्वरूप और संवेदना 1968, प्रेमचन्द की विरासत 1978, अठारह उपन्यास: 1981 औरों के बहाने: 1981, काँटे की बात (बारह खण्ड)1994, कहानी अनुभव और अभिव्यक्ति: 1996, उपन्यास: स्वरूप और संवेदना 1998, आदमी की निगाह में औरत–2001, वे देवता नहीं हैं–2001, मुड़-मुड़के देखता हूँ–2002, अब वे वहाँ नहीं रहते–2007, मेरे साक्षात्कार: 1994, काश, मैं राष्ट्रद्रोही होता : 2008, जवाब दो विक्रमादित्य (साक्षात्कार): 2007।

सम्पादन

एक दुनिया समानान्तर: 1967,

प्रेमचन्द द्वारा स्थापित कथा-मासिक 'हंस' का अगस्त, 1986 से

कथा-दशक: हिन्दी कहानियाँ (1981 -90),

आत्मतर्पण: 1994, अभी दिल्ली दूर है: 1995, काली सुर्खियाँ (अश्वेत कहानी-संग्रह): 1995, कथा यात्रा: 1967, अतीत होती सदी और त्रासदी का भविष्य: 2000 औरत : उत्तरकथा 2001, देहरी भई बिदेस, कथा जगत की बागी मुस्लिम औरतें, हंस के शुरुआती चार साल 2008 (कहानियाँ), वह सुबह कभी तो आयेगी (साम्प्रदायिकता पर लेख)–2008

मुख्य रचनाएँ

उपन्यास

- प्रेत बोलते हैं, प्रगति प्रकाशन दिल्ली 1951 (बाद में यही उपन्यास राजकमल प्रकाशन द्वारा 1959 में सारा आकाश के नाम से प्रकाशित हुआ),
- उखड़े हुए लोग, राजकमल प्रकाशन दिल्ली 1956,
- कुलटा मसिजीवी प्रकाशन इलाहाबाद 1958,
- शह और मात, भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली 1959,
- अनदेखा अनजान पल, राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली 1963,
- एक इंच मुस्कान (मन्नू भंडारी के साथ), राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली 1963।

कथा संग्रह

- देवताओं की मृत्यु, आलोक प्रकाशन बीकानेर 1951,
- खेल खिलौने, भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली 1953,
- जहाँ लक्ष्मी कैद है, राजकमल प्रकाशन दिल्ली 1957,
- छोटे-छोटे ताजमहल, राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली 1961,
- किनारे से किनारे तक, राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली 1962,
- वहाँ तक पहुँचने की दौड़, राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली।

कविता

- आवाज तेरी है, भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली 1960।

सम्पादन कार्य

- हंस पत्रिका - जनचेतना का प्रगतिशील कथा मासिक। बीते तीन दसकों की सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक पत्रिका .
- हिन्दी गद्यकार

15

रामदरश मिश्र

डॉ. रामदरश मिश्र हिन्दी के प्रतिष्ठित साहित्यकार हैं। ये जितने समर्थ कवि हैं उतने ही समर्थ उपन्यासकार और कहानीकार भी। इनकी लंबी साहित्य-यात्र समय के कई मोड़ों से गुजरी है और नित्य नूतनता की छवि को प्राप्त होती गई है। ये किसी वाद के कृत्रिम दबाव में नहीं आये बल्कि उन्होंने अपनी वस्तु और शिल्प दोनों को सहज ही परिवर्तित होने दिया। अपने परिवेशगत अनुभवों एवं सोच को सृजन में उतारते हुए, उन्होंने गाँव की मिट्टी, सादगी और मूल्यधर्मिता को अपनी रचनाओं में व्याप्त होने दिया जो उनके व्यक्तित्त्व की पहचान भी है। गीत, नई कविता, छोटी कविता, लंबी कविता यानी कि कविता की कई शैलियों में उनकी सर्जनात्मक प्रतिभा ने अपनी प्रभावशाली अभिव्यक्ति के साथ-साथ गजल में भी उन्होंने अपनी सार्थक उपस्थिति रेखांकित की। इसके अतिरक्त उपन्यास, कहानी, संस्मरण, यात्रावृत्तांत, डायरी, निबंध आदि सभी विधाओं में उनका साहित्यिक योगदान बहुमूल्य है।

प्रारंभिक जीवन

डॉ. रामदरश मिश्र का जन्म हिन्दी तिथिनुसार श्रावण पूर्णिमा गुरुवार को गोरखपुर जिले के कछार अंचल के गाँव डुमरी में हुआ था। इनके पिता का नाम रामचन्द्र मिश्र और माता का नाम कँवलपाती मिश्र है। ये तीन भाई हैं स्व. राम अवध मिश्र, रामनवल मिश्र तथा ये स्वयं, जिनमें ये सबसे छोटे हैं। उनसे छोटी एक बहन है कमला। मिश्र जी की प्रारंभिक शिक्षा मिडिल स्कूल तक गाँव के पास के एक स्कूल में हुई। फिर उन्होंने ढरसी गाँव स्थित 'राष्ट्रभाषा विद्यालय'

से विशेष योग्यता से 'विशारद' और साहित्यरत्न की परीक्षाएँ पास कीं। 1945 में ये वाराणसी चले गये और वहाँ एक प्राइवेट स्कूल में साल भर मैट्रिक की पढ़ाई की। मैट्रिक पास करने के पश्चात ये काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से जुड़ गये और वहीं से इंटरमीडिएट, हिन्दी में स्नातक एवं स्नातकोत्तर तथा डॉक्टरेट किया। सन् 1956 में सयाजीराव गायकवाड़ विश्वविद्यालय, बड़ौदा में प्राध्यापक के रूप में उनकी नियुक्ति हुई। सन् 1958 में ये गुजरात विश्वविद्यालय से सम्बद्ध हो गये और आठ वर्ष तक गुजरात में रहने के पश्चात 1964 में दिल्ली विश्वविद्यालय में आ गये। वहाँ प्रोफेसर के रूप में सेवामुक्त हुए।

साहित्यसेवा

रामदरश मिश्र हिन्दी साहित्य संसार के बहुआयामी रचनाकार हैं। उन्होंने गद्य एवं पद्य की लगभग सभी विधाओं में सृजनशीलता का परिचय दिया है और अनूठी रचनाएँ समाज को दी है। चार बड़े और आठ लघु उपन्यासों में मिश्र जी ने गाँव और शहर की जिन्दगी के संश्लिष्ट और सघन यथार्थ की गहरी पहचान की है। मिश्र जी की साहित्यिक प्रतिभा बहुआयामी है। उन्होंने कविता, कहानी, उपन्यास, आलोचना और निबंध जैसी प्रमुख विधाओं में तो लिखा ही है, आत्मकथा- सहचर है समय, यात्रा वृत्त तथा संस्मरण भी लिखे हैं। यात्राओं के अनुभव तना हुआ इन्द्रधनुष, भोर का सपना तथा पड़ोस की खुशबू में अभिव्यक्त हुए हैं। उन्होंने अपनी संस्मरण पुस्तक स्मृतियों के छन्द में उन अनेक वरिष्ठ लेखकों, गुरुओं और मित्रों के संस्मरण दिये हैं जिनसे उन्हें अपनी जीवन-यात्रा तथा साहित्य-यात्रा में काफी कुछ प्राप्त हुआ है। ये रचना-कर्म के साथ-साथ आलोचना कर्म से भी जुड़े रहे हैं। उन्होंने आलोचना, कविता और कथा के विकास और उनके महत्वपूर्ण पड़ावों की बहुत गहरी और साफ पहचान की है। 'हिन्दी उपन्यास – एक अंतयात्रा, 'हिन्दी कहानी – अंतरंग पहचान', 'हिन्दी कविता – आधुनिक आयाम', 'छायावाद का रचनालोक' उनकी महत्त्वपूर्ण समीक्षा-पुस्तकें हैं।

मिश्र जी ने अपनी सृजन-यात्रा कविता से प्रारंभ की थी और आज तक ये उसमें शिद्दत से जी रहे हैं। उनका पहला काव्य संग्रह 'पथ के गीत' 1951 में प्रकाशित हुआ था। तब से आज तक उनके नौ कविता संग्रह आ चुके हैं। ये हैं - ''बैरंग-बेनाम चिठियाँ', 'पक गयी है धूप', 'कंधे पर सूरज', 'दिन एक नदी बन गया', 'जुलूस कहां जा रहा है', 'आग कुछ नहीं बोलती', 'बारिश में

भीगते बच्चे और 'हँसी ओठ पर आँखें नम हैं', (गजल संग्रह)- 'ऐसे में जब कभी', नवीनतम काव्य संग्रह प्रेस में है। रामदरश मिश्र ने समय-समय पर ललित निबंध भी लिखे हैं, जो 'कितने बजे हैं? तथा 'बबूल' और 'कैक्टस' में संगृहीत हैं। इन निबंध ने अपनी वस्तुगत मूल्यवत्ता तथा भाषा शैलीगत सहजता से लेखकों और पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। मिश्र जी ने देशी यात्राओं के अतिरिक्त नेपाल, चीन, उत्तरी दक्षिणी कोरिया, मास्को तथा इंग्लैंड की यात्रएं की हैं।

रामदरश मिश्र के साहित्य पर समीक्षा पुस्तकें

1. उपन्यासकार रामदरश मिश्र सं. डॉ. वेद प्रकाश अमिताभ तथा डॉ. प्रेम कुमार, वाणी प्रकाशन, दिल्ली (1982)
2. कथाकार रामदरश मिश्र ले. डॉ. सूर्यदीन यादव, इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली (1987)
3. रचनाकार रामदरश मिश्र सं. डॉ. नित्यानंद तिवारी तथा डॉ. ज्ञानचंद गुप्त, राधा पब्लिकेशन, दिल्ली (1990)
4. रामदरश मिश्र की सृजन यात्र ले. डॉ. महावीर सिंह चौहान, वाणी प्रकाशन, दिल्ली (1991)
5. कवि रामदरश मिश्र स. डॉ. महावीरसिंह चौहान तथा डॉ. नवनीत गोस्वामी, संस्कृति प्रकाशन अहमदाबाद (1991)
6. रामदरश मिश्र व्यक्तित्त्व एवं कृतित्त्व ले. डॉ फूलबदन यादव, राधा प्रकाशन, दिल्ली (1992)
7. मूल्य और मूल्य संक्रमण (रामदरश मिश्र के उपन्यासों के संदर्भ में ले. डॉ. विनीता राय, अनिल प्रकाशन इलाहाबाद (1999)
8. रामदरश मिश्रः व्यक्ति और अभिव्यक्ति सं. डॉ. स्मिता मिश्र तथा डॉ जगन सिंह वाणी प्रकाशन, दिल्ली (1999)
9. रामदरश मिश्रः रचना समय ले. डॉ. वेद प्रकाश अमिताभ, भारत पुस्तक भंडार, दिल्ली (1999)
10. रामदरश मिश्र की उपन्यास यात्रा ले. डॉ. प्रभुलाल डी. वैश्य, डॉ. गुंजनशाह, शाह प्रकाशन अहमदाबाद (2001)
11. रामदरश मिश्र के उपन्यासः चेतना के स्वर, डॉ. गुंजन शाह, साहित्य भारती, दिल्ली (2002)

12. रामदरश मिश्र के उपन्यासों में समाज-जीवन डॉ. प्रकाश चिर्कुडेकर, नमन प्रकाशन, दिल्ली (2002)
13. रामदरश मिश्र की कहानियों में यथार्थ चेतना और मूल्य बोध डॉ. राधेश्याम सारस्वत अम्बा जी, गुजरात (2002)
14. रामदरश मिश्र के उपन्यासों में ग्राम चेतना ('जल टूटता हुआ' के संदर्भ में) डॉ. ममता शर्मा, राष्ट्रीय ग्रंथ प्रकाशन गांधी नगर (2002)
15. रामदरश मिश्ररू एक अंतर्यात्रा डॉ. प्रकाश मनु, वाणी प्रकाशन दिल्ली (2004)
16. रामदरश मिश्र के उपन्यासों की वैचारिक पृष्ठभूमि, डॉ. सीमा वैश्य, सत्यम पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली (2004)
17. रामदरश मिश्र की कविता: सृजन के रंग, डॉ. सूर्यदीन यादव, शांति पुस्तक भंडार, दिल्ली (2005)
18. रामदरश मिश्र के उपन्यासों में गृह- परिवार, डॉ. यशवंत गोस्वामी, नया साहित्य केंद्र, दिल्ली (2005)
19. रामदरश मिश्र के उपन्यासों में नारी, डॉ. मनहर गोस्वामी, नया साहित्य केंद्र, दिल्ली (2005)
20. रामदरश मिश्र की कहानियों में पारिवारिक सम्बन्धों का स्वरूप, डॉ. अमिता, स्वराज प्रकाशन दिल्ली (2006)
21. रामदरश मिश्र के उपन्यासों में आंचलिकता, डॉ. श्रीधर प्रदीप, अमर प्रकाशन मथुरा, (2004)
22. रामदरश मिश्र के उपन्यासों में ग्रामीण परिवेश, अनिल काले, चिंतन प्रकाशन कानपुर (2007)
23. रामदरश मिश्र के साहित्य में ग्राम्य जीवन, डॉ. वीरचन्द्र जी चौहान, चिंतन प्रकाशन कानपुर (2006)

योगदान

प्राय: सभी भारतीय भाषाओं में मिश्र जी की कविताओं और कहानियों के अनुवाद हुए हैं। उनका एक उपन्यास 'अपने लोग' गुजराती में अनूदित है। उनकी रचनाओं विभिन्न स्तरों के पाठ्यक्रमों में पढ़ाई जा रही हैं और देश के अनेक विश्वविद्यालयों में उनके साहित्य पर अनेक शोध् कार्य हो चुके हैं और लगातार हो रहे हैं। मिश्र जी देश की अनेक साहित्यिक और अकादमिक संस्थाओं द्वारा

सम्मानित किये जा चुके हैं। 21 अप्रैल 2007 को पटना में प्रतिष्ठित साहित्यिक पत्रिका 'नई धारा' द्वारा तृतीय उदयराज सिंह स्मारक व्याख्यान तथा साहित्यकार सम्मान समारोह में प्रसिद्ध साहित्यकार उदयराज सिंह की धर्मपत्नी श्रीमती शीला सिन्हा ने डॉ. रामदरश मिश्र को 'उदयराज सिंह स्मृति सम्मान' से सम्मानित किया। उनकी अनेक कृतियाँ पुरस्कृत हुई हैं। ये अनेक साहित्यिक, अकादमिक और सामाजिक संस्थाओं के अध्यक्ष रह चुके हैं। कई लघु पत्रिकाओं के सलाहकार संपादक हैं।

16

विश्वनाथप्रसाद तिवारी

डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी प्रसिद्ध हिन्दी साहित्यकार हैं और 2013 से 2017 तक की अवधि के लिए साहित्य अकादमी के अध्यक्ष रहे। वे गोरखपुर से प्रकाशित होने वाली 'दस्तावेज' नामक साहित्यिक त्रैमासिक पत्रिका के संस्थापक-संपादक हैं। यह पत्रिका रचना और आलोचना की विशिष्ट पत्रिका है, जो 1978 से नियमित प्रकाशित हो रही है। सन् 2011 में उन्हें व्यास सम्मान प्रदान किया गया।

परिचय

20 जून 1940 को कुशीनगर के रायपुर भैंसही-भेडिहारी गांव में जन्मे आचार्य विश्वनाथ प्रसाद तिवारी एक लोकप्रिय शिक्षक भी रहे। प्रो. तिवारी गोरखपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष पद से वर्ष 2001 में सेवानिवृत्त हुए।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद तिवारी साहित्य के अनवरत सहज साधक हैं। उन्होंने गांव की धूल भरी पगडण्डी से इंग्लैण्ड, मारीशस, रूस, नेपाल, अमरीका, नीदरलैण्ड, जर्मनी, फ्रांस, लक्जमबर्ग, बेल्जियम, चीन, आस्ट्रिया, जापान और थाईलैण्ड की जमीन नापी है। इन्होनें उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के कई सम्मान हासिल किये। रूस की राजधानी मास्को में साहित्य के प्रतिष्ठित पुश्किन सम्मान से नवाजे गये। उन्हें उत्तर प्रदेश की सरकार ने शिक्षक श्री सम्मान दिया। उन्हें उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान द्वारा साहित्य भूषण सम्मान, हिंदी गौरव सम्मान, केंद्रीय हिंदी संस्थान द्वारा महापंडित सांकृत्यायन सम्मान, महादेवी वर्मा गोयन्का सम्मान,

भारतीय भाषा परिषद का कृति सम्मान मिल चुका है। उनके द्वारा संपादित पत्रिका 'दस्तावेज' को सरस्वती सम्मान भी मिल चुका है।

रचनाएँ

उनका रचनाकर्म देश और भाषा की सीमायें तोड़ता है। उड़िया अनुवाद के रूप में इनकी कविताओं के दो संकलन प्रकाशित हुए। हजारी प्रसाद द्विवेदी पर लिखी इनकी आलोचना पुस्तक का गुजराती और मराठी भाषाओं में अनुवाद हुआ है। इसके अलावा रूसी, नेपाली, अंग्रेजी, मलयालम, पंजाबी, मराठी, बांग्ला, गुजराती, तेलुगु, कन्नड़, तमिल, असमिया व उर्दू में भी इनकी रचनाओं का अनुवाद हुआ है।

1978 से हिन्दी की साहित्यिक पत्रिका 'दस्तावेज' का लगातार संपादन-प्रकाशन कर रहे हैं। 'दस्तावेज' के लगभग दो दर्जन विशेषांक प्रकाशित हुए हैं, जो ऐतिहासिक महत्व के हैं। उनके शोध व आलोचना के 12 ग्रंथ, 7 कविता संग्रह, 04 यात्रा संस्मरण, तीन लेखक-संस्मरण व एक साक्षात्कार पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है। उन्होंने हिन्दी के कवियों, आलोचकों पर केन्द्रित 16 अन्य पुस्तकों का सम्पादन किया है। उनकी डायरी (दिनरैन) तथा आत्मकथा (अस्ति और भवति) भी प्रकाशित हो चुकी है।

मानव ही मानव की तीसरी आँख है–

1. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी
2. 22 मार्च, 1987

मैं अपनी पत्नी के साथ सोमनाथ-द्वारका से लौटते हुए दिनभर के लिए अहमदाबाद में था। भोलाभाई पटेल और रघुवीर चौधरी से मालूम हुआ, 'वात्स्यायन जी आज ही अहमदाबाद आने वाले हैं। कल वह शमशेर बहादुर सिंह को, जो गंभीर रूप से अस्वस्थ हैं, देखने सुरेंद्रनगर जाएँगे। इसी निमित्त आ रहे हैं।' रघुवीर चौधरी ने यह भी बताया कि वह नहीं रुकेंगे। मैंने कहा कि यह तो तीसरी मंजिल है। वात्स्यायन जी दिल के मरीज हैं। यहाँ तक कैसे चढ़ेंगे। मैंने कहा कि आप सीढ़ियाँ गिन लीजिए। उनसे नीचे ही पूछ लीजिएगा, तब ऊपर चढ़ने के लिए कहिएगा। वात्स्यायन जी का हवाई जहाज रात आठ बजे अहमदाबाद पहुँचने वाला था और मेरी गाड़ी ठीक उसी समय अहमदाबाद से छूटने वाली थी। मेरे मन में बार-बार आ रहा था कि मैं भी रुक जाऊँ और कल वात्स्यायन जी के साथ शमशेर जी को देखने चला चलूँ। मेरी पत्नी ने भी एक-दो

बार कहा कि आप रुक जाइए, अज्ञेय जी से आपकी भेंट हो जाएगी। पर गुजरात से गोरखपुर को जाने वाली वह एक ही गाड़ी थी और उसमें इतनी भीड़ होती है कि गर्मियों में दो-तीन महीने पहले आरक्षण करा लेना पड़ता है। मैं सपत्नीक था और आगे आरक्षण की दिक्कत को ध्यान में रखकर मैंने जाने का ही फैसला किया। चलते समय मैंने रघुवीर भाई से कहा, 'वात्स्यायन जी को मेरा नमस्कार कह दीजिएगा'। मैं क्या जानता था कि वात्स्यायन जी के जीवनकाल में उनको संबोधित यह मेरा अंतिम नमस्कार होगा।

24 मार्च को मैं गोरखपुर पहुँचा। यहाँ आते ही तार और चिट्ठियाँ पड़ी थीं कि 26 मार्च को दिल्ली विश्वविद्यालय में एक मौखिक परीक्षा लेनी है, नहीं तो उस छात्र को डिग्री नहीं मिलेगी। सो 26 मार्च को दिल्ली पहुँचा। 28 मार्च को फोन करने पर पता चला कि वात्स्यायन जी भोपाल गए हैं। मुलाकात का यह भी अवसर खाली गया। 30 मार्च को मैं गोरखपुर लौट आया। चार दिन बाद अर्थात् 4 अप्रैल को अपराह्न मालूम हुआ कि वात्स्यायन जी नहीं रहे। सहसा विश्वास नहीं हुआ। वात्स्यायन जी की अवस्था तो छिहत्तर वर्ष की हो चुकी थी। पर उनका स्वास्थ्य इतना अच्छा था कि यह खबर अत्यंत आकस्मिक लगी। स्थानीय रेडियो स्टेशन फोन करके पुष्टि की और रात में दिल्ली रवाना हो गया। 5 अप्रैल को दो बजे दिन में नई दिल्ली पहुँचा फिर तीनमूर्ति पर सामान रखकर अपने छोटे भाई राजेंद्र के साथ उसी स्कूटर से निगमबोध घाट। चार बजने में पंद्रह मिनट कम थे। वात्स्यायन जी का पार्थिव शरीर चिता पर रखा जा चुका था। ऊपर लकड़ियाँ सजा दी गई थीं। यह वात्स्यायन जी का अंतिम दर्शन था। ...तेज हवा में चिता धधक रही थी और अपने समय की न केवल सबसे बड़ी रचनात्मक प्रतिभा, बल्कि सबसे सुंदर काया भी जल रही थी। हम लोग आपसी बातचीत में कहा करते थे कि वात्स्यायन जी जिस दिन जिस शहर में होते हैं, उस दिन वहाँ उनके जैसे व्यक्तित्त्व कोई दूसरा नहीं होता। चार महानगरों को छोड़ दें तो भारत के अन्य किसी भी नगर में उनके जैसा बाह्य व्यक्तित्त्व भी किसी का दिखाई नहीं पड़ता था।

ठीक-ठीक याद नहीं है, पर यह संभवत: 1959 की बात है, जब मैंने अज्ञेय का उपन्यास - 'शेखर : एक जीवनी' पढ़ा था। तब मैं बी.ए. का छात्र था और मुझे वह उपन्यास पूरी तरह समझ में नहीं आया था। उसके बाद उनका 'नदी के द्वीप' पढ़ा। मेरे भीतर अज्ञेय की कृतियों के प्रति आकर्षण उनके उपन्यासों से ही पैदा हुआ। खास तौर से 'शेखर : एक जीवनी' से, जिसे

दुबारा-तिबारा पढ़ा। आत्ममंथन, विचारों की गहराई, मानव मन की सूक्ष्मतम पकड़ और दुनियाभर के महान रचनाकारों की मूल्यवान पंक्तियाँ - पढ़ते हुए महसूस होता था कि अनुभव और विचार की एक उच्च भूमि पर पहुँच गया हूँ। पंक्तियों को गुनगुनाने की। लिखित भाषा का सबसे बड़ा प्रभाव यह होता है कि एक बार पढ़ने पर यह हो जाए। 'शेखर : एक जीवनी' की तमाम पंक्तियाँ मुझे तभी याद हो गई थीं और अब तक याद हैं। मन की रागात्मक भावनाओं को स्पर्श करने वाली, तारवाद्यों की झंकार लिए हुए वह एक अजीब भाषा थी - कम-से-कम उन दिनों मुझे वह ऐसी ही लगी। बाद में अज्ञेय की कविताएँ भी पढ़ीं। यह आकर्षण बढ़ता ही गया जिसका मुख्य कारण उन दिनों का साहित्यिक परिदृश्य था। उन दिनों जो अतुकांत नई कविता लिखी जा रही थी और जिस तरह की कविता मैं भी लिखना चाहता था, वह अज्ञेय काव्य-संकलनों में पढ़ने को मिलती थी। उनमें एक नवीनता थी और एक बौद्धिक गंभीरता। (यहाँ यह स्वीकार करना उपयुक्त होगा कि अज्ञेय के गद्य की तुलना में उनकी कविताएँ मुझे तब भी उतनी अच्छी नहीं लगी थीं और आज भी नहीं लगतीं।) अज्ञेय का नाम बड़ा था - बहुत चर्चित था। पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं में बार-बार पढ़ने को मिलता था। उनके प्रति एक सहज आकर्षण तभी से शुरू हो गया था और उनकी तब तक प्रकाशित लगभग सभी पुस्तकें मैंने एम.ए. पास करते-करते अर्थात 1961 तक पढ़ ली थीं।

गद्य साहित्य पर अपने शोधकार्य के सिलसिले में मैंने अज्ञेय की गद्य कृतियाँ - उपन्यास, कहानी, निबंध, यात्रा-संस्मरण आदि पुनः पढ़ीं। उन पर अलग से एक लेख भी लिखा, जिसका शीर्षक था 'भोगने वाला मन और रचने वाली मनीषा'। वात्स्यायन जी उन दिनों अमेरिका में थे। मैंने विद्यानिवास मिश्र से उनका पता लेकर वह लेख अमेरिका भेज दिया। वात्स्यायन जी का कोई उत्तर नहीं मिला, न वह लेख उस रूप में कभी छपा ही। बाद में उसका संशोधित रूप कई जगह प्रकाशित हुआ। यह अज्ञेय से संपर्क बढ़ाने और उनसे मिलने इच्छा थी, जो इस रूप में प्रकट हुई थी।

अज्ञेय से मेरी पहली मुलाकात कब और कहाँ हुई थी, इसकी ठीक-ठीक याद नहीं है। मेरी डायरी में उनसे मुलाकात की जो पहली तिथि अंकित है, वह 25 सितंबर, 1968। उस दिन लोक सेवा आयोग, दिल्ली में इंडियन को-ऑपरेशन मिशन, नेपाल के लिए लेक्चरर पद का एक साक्षात्कार था, जिसमें मैं एक अभ्यर्थी था। साक्षात्कार के बाद अज्ञेय जी से मिलने गया

था, लेकिन उस मुलाकात की कोई स्मृति इस समय शेष नहीं है। इसके बाद मैंने अज्ञेय पर एक पुस्तक संपादित करने की योजना बनाई। कुछ लोगों ने सुझाब दिया कि ग्रंथ उनकी षष्टिपूर्ति के अवसर पर तो नहीं, पर बहुत बाद में प्रकाशित हुआ और एक अभिनंदन ग्रंथ के रूप में नहीं, बल्कि मूल्यांकन ग्रंथ के रूप में। इस ग्रंथ के संबंध में जब मैंने अज्ञेय जी को सूचित किया था जो अपने उत्तर में उन्होंने लिखा, 'षष्टिपूर्ति' का अवसर टल गया, अच्छा ही हुआ। आयु से जूझना भी तो व्यक्ति का निजी कर्म ही है, उसे सार्वजनिक रूप देना अच्छा नहीं लगता।' 8-4-71 को दिल्ली से लिखा गया यह मेरे नाम अज्ञेय का पहला पत्र था।

30 मार्च, 1972 को साहित्य अकादेमी का वार्षिक पुरस्कार वितरण समारोह था। इसी समारोह में नामवर सिंह को 'कविता के नए प्रतिमान' पर उस वर्ष का पुरस्कार मिला था। मैं उस दिन संयोग से दिल्ली में था। अकादमी दफ्तर में प्रभाकर माचवे और भारतभूषण अग्रवाल से मिला था। अज्ञेय संबंधी उपर्युक्त पुस्तक की चर्चा की, तो माचवे जी हिंदी की साहित्यिक गुटबंदी और अज्ञेय विरोध पर देर तक बोलते रहे। भारतभूषण अग्रवाल ने बताया कि मैं तो अज्ञेय पर एक पूरी पुस्तक लिखना चाहता हूँ। एक बार राजकमल प्रकाशन से अनुबंध भी हुआ था, पर जब वात्स्यायन जी को यह बात मालूम हुई तो उन्होंने मुझसे कह दिया कि मैं उन पर कोई पुस्तक न लिखूँ। साहित्य अकादमी के पुरस्कार वितरण समारोह में वात्स्यायन जी भी थोड़ी देर के लिए आए थे और यदि मैं भूल नहीं करता तो उसी दिन मैंने उनके साथ इला डालमिया को पहली बार देखा था। उस दिन शीला संधू ने नामवर सिंह को पुरस्कार मिलने के उपलक्ष्य में अपने घर पर साहित्यकारों को रात्रि-भोज दिया था। इसमें वात्स्यायन जी भी आए थे और काफी देर तक रहे।

25 दिसंबर, 1974

मैं दिल्ली में था। अरुणेश नीरन और वागीश शुक्ल के साथ वात्स्यायन जी से मिलने गया। वहाँ उस दिन विद्यानिवास मिश्र भी ठहरे हुए थे। वात्स्यायन जी कोट-पैंट में निकले - अपनी मासूम मुसकराहट के साथ हम लोगों का स्वागत किया। उस दिन देर तक उनके साथ बहुत सारी बातें होती रहीं - अभिव्यक्ति स्वातंर्त्य पर, समकालीन रचना पर, साहित्यिक गुटबंदियों पर, सरकारी तंत्र के बढ़ते हुए दबाव पर और इन सबके साथ उनके अपने

रचनात्मक अनुभवों पर। प्रसंगवश वे कई आपबीती मनोरंजक घटनाएँ सुनाते रहे। इसी बीच विद्यानिवास जी से मैं वात्स्यायन जी के बारे में अपनी पुस्तक की चर्चा करने लगा। मैंने कहा कि इस पुस्तक का प्रकाशन राजकमल प्रकाशन से होगा। वात्स्यायन ने बीच में टोककर पूछा, 'क्या यह बातचीत मेरे संबंध में लिखी जा रही पुस्तक के बारे में हो रही है?' मेरे हाँ करने पर वात्स्यायन जी ने कहा, 'मैं चाहूँगा कि मेरे बारे में लिखी गई पुस्तक छपने के लिए राजकमल को न दी जाए।' मैं चाहता था कि पूछूँ – 'क्यों? पर मैं जानता था और कई मित्रों से सुन चुका था कि वात्स्यायन जी अपने बारे में दूसरों को उतना ही जानने देते हैं, जितना खुद चाहते हैं। मैं चुप हो गया। एक बार दो वर्ष पूर्व ठीक इसी प्रकार की घटना का जिक्र भारतभूषण अग्रवाल ने मुझसे किया था। उस समय तो नहीं, पर पिछले कुछ वर्षों से यह संदेह मेरे मन में लगातार उठता रहा है कि क्या राजकमल प्रकाशन या उससे जुड़े हुए लोगों से वात्स्यायन जी का कोई व्यक्तिगत विरोध था? यदि 'हाँ' तो दूसरे पक्ष के मन में भी उनके प्रति ऐसा ही भाव होगा? वह कौन-सी बात है कि जिसने वात्स्यायन जी के मन को इतनी चोट पहुँचाई होगी? वह स्वयं वात्स्यायन जी की ओर से रही होगी या राजकमल पक्ष से? यह एक रहस्य है जिसकी छानबीन प्रबुद्ध पाठक और हिंदी साहित्यकार को करनी चाहिए। ऊपर से देखने पर यह एक नितांत निजी मामला दीखता है और इसका पता लगाना निहायत मूर्खतापूर्ण लगता है, पर अनुभव यह बताता है कि अपने देश में व्यक्तिगत विरोधों को सैद्धांतिक जामा पहनाकर पेश किया जाता है। अतः सच को जानने के लिए व्यक्तिगत राग-द्वेष को जानना बहुत जरूरी हो जाता है।

11 अक्टूबर, 1976

मैं हिंदी शिविर, जयपुर से लौटते हुए दिल्ली में दो-तीन दिन के लिए रुका था। हम लोग (मैं, परमानंद श्रीवास्तव, केदारनाथ सिंह और वागीश शुक्ल) जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में नामवर सिंह के कमरे में बैठे थे। मैंने केदार जी से धीरे-धीरे कहा कि वात्स्यायन जी को फोन करना है। किताब के लिए उनका एक इंटरव्यू लेना है। केदार जी ने मजाकिया अंदाज में नामवर जी से पूछा, 'बाइ द वे, नामवर जी, आपका फोन क्या वात्स्यायन जी से मिलता है?' नामवर जी ने मुसकुराते हुए कहा, 'देखिए, कोशिश करता हूँ।' उन्होंने फोन मिलाकर फोन मेरे हाथ में थमा दिया। मैंने वात्स्यायन जी से

मिलने और बातचीत के लिए समय माँगा तो उन्होंने तुरंत बुला लिया। उस वक्त दिन के लगभग बारह बजे थे और हममें से किसी ने भोजन नहीं किया था। मैंने टैक्सी ली और हम सभी लोग उनके निवास स्थान गोल्फलिंक्स पहुँचे। बातचीत लगभग डेढ़-दो घंटे चली। सभी लोग बातचीत में शामिल रहे। वात्स्यायन जी सबके प्रश्नों-प्रतिप्रश्नों का उत्तर देते रहे। यह साक्षात्कार बाद में संशोधित और परिवर्धित रूप में एक-दो पुस्तकों में प्रकाशित हो चुका है। बातचीत के बीच में अज्ञेय जी सबके लिए चाय लेकर आए तथा कुछ और खाने के बारे में पूछा। केदार जी ने सहज भाव से कह दिया कि हम लोगों ने अभी खाना नहीं खाया है। वात्स्यायन जी की मुद्रा कुछ दयनीय हो गई। असल में उस समय उनके बँगले पर कोई नहीं था। ड्राइवर भी नहीं था कि बाहर से कुछ मँगाते। वे एकदम अकेले थे। नौकर भी कहीं बाहर गया था। हम लोग इस स्थिति से वाकिफ नहीं थे। वात्स्यायन जी फ्रिज से दूध में भिगोया कुछ तालमखाना लेकर आए। हम लोगों को थोड़ा-थोड़ा दिया। उस समय की स्थिति जानकर हम लोगों की मुद्रा स्वयं दयनीय हो गई।

वात्स्यायन जी से मेरी पहली भेंट संभवतः 1968 में हुई थी या संभव है, इससे एक-दो वर्ष पहले। 1976 तक पहुँचते-पहुँचते यह संबंध ऐसा हो गया था कि जब भी गोरखपुर या कुशीनगर आते, मेरे अनुरोध पर मेरे घर भी अज्ञेय अवश्य पहुँचते। 30 जनवरी, 1977 को वह पहली बार मेरे घर आए थे। एक दिन पहले उन्हें कुशीनगर कॉलेज में दीक्षांत भाषण करना था, उसी सिलसिले में आए थे। वात्स्यायन जी काफी दिनों बाद गोरखपुर आए थे। अतः उन्हें देखने और सुनने के लिए काफी भीड़ इकट्ठी हो गई थी। मेरे ड्राइंगरूम में जगह नहीं थी कुछ लोग बरामदे में खड़े थे और कुछ लोग सड़क पर। भीड़ को देखकर मैं परेशान था। मेरे एक मित्र ने कहा, 'आप इतने परेशान क्यों है?' वात्स्यायन जी का स्वागत करते हुए मैंने जवाब दिया, 'लोगों के घर राज्यपाल और मुख्यमंत्री जाते हैं, तो लोग व्यस्त और परेशान दिखते हैं। मेरे लिए तो वात्स्यायन जी राज्यपाल और मंत्रीगण से बहुत बड़े हैं। अतः मेरी हड़बड़ाहट स्वाभाविक है।' इस गोष्ठी में नगर के साहित्य-प्रेमियों के अतिरिक्त विभिन्न अनुशासनों के लगभग सभी विद्वान उपस्थित थे। विश्वविद्यालय के मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, इतिहास, प्राचीन इतिहास, राजनीतिशस्त्र आदि विषयों के विभागाध्यक्ष और विद्यानिवास मिश्र आदि। गोष्ठी में वात्स्यायन जी ने 'भारतीय अस्मिता और काल' विषय पर अपना गंभीर वक्तव्य दिया और फिर विद्वानों के प्रश्न

का उत्तर भी। 30 जुलाई, 1977 को जब अगली बार वात्स्यायन जी गोरखपुर आए तो उन्होंने मेरे निवास पर आयोजित एक गोष्ठी में अपनी प्रसिद्ध कविता 'असाध्य वीणा' का पाठ किया। बीच में बिजली चली गई तो मोमबत्ती का प्रबंध किया गया और उन्होंने मोमबत्ती की रोशनी में पूरी कविता पढ़ी। इस गोष्ठी में विद्यानिवास जी और डॉ. रघुवंश भी उपस्थित थे।

27 मार्च, 1978

ग्यारह बजे दिन में मेरी कॉलबेल बजी और जब मैंने दरवाजा खोला तो देखता हूँ, वात्स्यायन जी खड़े हैं - हाथ में एक ब्रीफकेस लिए हुए। मैं अवाक। वह हवाई अड्डे से रिक्शे द्वारा सीधे मेरे घर पहुँचे थे। जैसा सभी शहरों में होता है, यहाँ भी हवाई अड्डा शहर से बाहर है और मेरे घर से छः किलोमीटर दूर। अज्ञेय जी को जितना समय दिल्ली से गोरखपुर आने में लगा लगभग उतना ही हवाई अड्डे से मेरे घर पहुँचने में। दरअसल यह गड़बड़ी इसलिए हुई कि हम लोग अगले दिन उनके आने की आशा कर रहे थे। यहाँ 'भाषा और समाज' शीर्षक संगोष्ठी में उन्हें भाग लेना था। उन्होंने हम लोगों को तार दिया था, लेकिन वह समय से नही मिला। इसलिए कोई हवाई अड्डे नहीं गया। वात्स्यायन जी ने उतरकर पहले फोन करना चाहा और मेरा नंबर पूछा। एक्सचेंज वालों ने एक गलत नंबर भी बता दिया क्योंकि मेरे यहाँ तब फोन था ही नहीं। वह काफी देर संपर्क करने की कोशिश करते रहे और अंत में हारकर रिक्शे पर बैठ गए। रास्ता उनका देखा हुआ था। अतः कोई असुविधा नहीं हुई, पर मेरे यहाँ उन्हें जो असुविधा हुई उसके लिए आज भी सोचता हूँ तो न केवल तकलीफ होती है, बल्कि अपनी मूर्खता पर गुस्सा आता है। वह भोजन का समय था। वात्स्यायन जी ने मेरे साथ ही भोजन किया। वही सादा भोजन जो हम रोज करते हैं। मेरी अक्ल उस समय कहाँ चली गई थी कि मैंने उनके लिए कुछ विशेष भोजन की व्यवस्था नहीं की! फिर वे एक सोफा पर बैठ गए और लगभग पाँच घंटे उसी पर बैठे रहे। भोजन के बाद मैंने उनके आराम की व्यवस्था क्यों नहीं की, यह सोचता हूँ तो अपने को आज भी क्षमा नहीं कर पाता। दरअसल इस रूप में उनके अचानक पहुँच जाने से मैं किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया था। वात्स्यायन जी मितभाषी प्रसिद्ध हैं। मैं सोच नहीं पा रहा था कि उनसे क्या-क्या बातें करूँ। गोष्ठी अगले दिन होनी थी और उस दिन का पूरा समय खाली था। उनसे कोई व्यक्तिगत बात की नहीं जा

सकती थी, क्योंकि वे न दूसरों के व्यक्तिगत जीवन में घुसते थे और न ही अपने व्यक्तिगत जीवन में किसी को घुसने देना चाहते थे। उनके सामने लंतरानियाँ झाड़ी नहीं जा सकती थीं क्योंकि मौन का एक अभेद्य कवच वे लगाए रहते थे। उनके सामने पर निंदा पुराण सुनाया नहीं जा सकता था, क्योंकि वे निजी चर्चा को एक प्रकार की अश्लीलता मानते थे और केवल हलकी मुस्कराहट मात्र से उसका उत्तर देते थे। कहा जा सकता है कि उनके व्यक्तित्त्व के अनेक आकर्षणों में गोपनीयता का भी एक आकर्षण था। वात्स्यायन जी ने अगले दिन की गोष्ठी के बारे में कुछ बातें कीं फिर चुप हो गए। कुछ देर बाद बोले, 'यहाँ कोई ताल है?' मैंने बताया कि 'बीस-पच्चीस किलोमीटर पर एक बड़ा सा ताल है।' उन्होंने पूछा, 'क्या वहाँ पक्षी आते हैं?' मैंने बताया कि 'आते तो होंगे, पर मैं वहाँ एक ही बार गया हूँ, ठीक से बता नहीं सकता कि इस समय स्थिति क्या है!' फिर उन्होंने मिट्टी की मूर्तियाँ बनाने वाले कुम्हार के बारे में पूछा और उसके घर चलने की इच्छा व्यक्त की। मैंने एक जीप मँगाई और उनको लेकर विद्यानिवास मिश्र के घर गया जो अगले दिन के समारोह के लिए तब तक आगरा से यहाँ पहुँच गए थे। फिर हम लोग उस कुम्हार के गाँव गए। वहाँ वात्स्यायन जी ने मिट्टी की मूर्तियाँ खरीदीं। इस यात्रा में उन्होंने अपनी पुस्तक 'संवत्सर' की एक प्रति भी मुझे भेंट की।

मई 78

शिमला जाते हुए मैं दिल्ली में दो-तीन दिन रुका था। तब वात्स्यायन जी नवभारत टाइम्स के संपादक थे। उनसे एक दिन दफ्तर में मिला था और कह दिया था कि कल-परसों में घर पर आऊँगा। 31 मई को सायंकाल उनके निवास पर पहुँचा। मेरे साथ गोरखपुर के ही एक युवक अरुण कुमार भी थे। कॉलबेल बजाया तो इला जी निकलीं। वे मुझे पहचानती थीं। उन्होंने बैठाया और कहा, 'जब से वात्स्यायन जी ने नवभारत टाइम्स का कार्य शुरू किया तब से उन से पर कार्य बोझ बहुत हो गया है। वे अभी अभी आए हैं। कॉलबेल की आवाज सुनकर उन्होंने कहा है, यदि विश्वनाथ जी हों तो बैठाइए, और कोई हो तो कह दीजिए घर में नहीं हैं।' मैं अपने ऊपर वात्स्यायन जी की इस कृपा से गौरवान्वित हुआ। वैसे इस कृपा का मुख्य कारण यही रहा होगा कि मैंने उनसे पहले ही घर पर मिलने के लिए कह दिया था। थोड़ी देर बाद वात्स्यायन जी निकले - 'वेत कुरते-पाजामे में।

उनके शरीर पर कोई भी पोशाक बहुत खिलती थी और किसी भी पहनावे में वे सुरुचि और आभिजात्य की विशिष्ट मूर्ति लगते थे। उनके उठने-बैठने, खाने-पीने सब में एक सलीका दिखाई पड़ता था। कमरे की सजावट से लेकर आसपास की सारी चीजों तक में उनकी सुरुचि की छाप होती थी। उस दिन यद्यपि वह थके थे फिर भी दो घंटे तक बहुत सारी बातें होती रहीं। मुझे दो-तीन दिन बाद शिमला जाना था। अतः इस प्रसंग में 'पहाड़' की भी चर्चा शुरू हुई। वात्स्यायन जी को 'सागर' बहुत प्रिय था। उनकी कविताओं और अन्य रचनाओं में 'सागर' बार-बार आता है। एक जगह उन्होंने लिखा है कि मनोवैज्ञानिकों के अनुसार जो सागर को प्यार करता है वह मृत्यु को प्यार करता है। मैंने वात्स्यायन जी को पूछा कि पहाड़ को प्यार करने वाले व्यक्ति का मनोविज्ञान क्या हो सकता है? क्या पहाड़ को प्यार करने वाला व्यक्ति महत्वाकांक्षी होता है? वे मेरी इस व्याख्या से सहमत नहीं हुए। फिर कविता के मूल्यांकन को लेकर चर्चा हुई कि उसके मूल्यांकन का क्या आधार होना चाहिए। फिर कविता के पाठ और उसके अध्यापन की समस्या पर भी बातचीत हुई। मैंने उन्हें एक कैसेट दिया था उनकी कविताओं और गद्य -रचनाओं को रिकार्ड करने के लिए। उन्होंने उसे जल्दी रिकार्ड करके भेजने को कहा, लेकिन शर्त यह लगाई कि किसी दूसरे व्यक्ति को उसे पुनः रिकार्ड करने न दूँ। हाँ, सुना सकता हूँ।

6 मार्च, 1980

अपने सत्तरवें जन्मदिन पर कुशीनगर जाते हुए वात्स्यायन जी गोरखपुर पहुँचे थे। मुझे उसी दिन उनका पत्र मिला था। सायं काल विश्वविद्यालय अतिथिगृह पहुँचा। अज्ञेय जी आ गए थे। उनसे दूसरे दिन के कार्यक्रम की चर्चा हुई। मेरे अनुरोध पर उन्होंने देवरिया जिला पत्रकार संघ के उद्घाटन के लिए समय दिया था। उद्घाटन के बाद देवरिया से वे कुशीनगर आए, जहाँ अपराह उनका जन्मदिन समारोह मनाया गया। एक छोटी सी कवि-गोष्ठी भी हुई। समारोह की अध्यक्षता पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी ने की। इस अवसर पर अज्ञेय जी की बड़ी बहन, इला डालमिया, लोठार लुत्से, विद्यानिवास मिश्र, भवानीप्रसाद मिश्र, जगदीश गुप्त, केदारनाथ सिंह, रामकमल राय आदि बाहर से आए थे। बाहर से आए लोगों के हाथों अज्ञेय की जन्मभूमि पर पाँच वृक्ष भी लगाए गए। मैंने लक्ष्य किया कि अज्ञेय जी अपने संकोची स्वभाव के विपरीत जन्मदिन समारोह में बहुत रुचि ले

रहे थे। बच्चों की तरह। उन्होंने कई चित्र खींचे और खिंचवाए। भवानी भाई को खुद ही पकड़कर ले गए और जन्मस्थान पर उनके साथ चित्र खिंचवाया। मैंने कई अवसरों पर यह लक्ष्य किया है कि अज्ञेय के व्यक्तित्त्व में एक ओर, यदि गंभीर मौन, संकोच और तटस्थता या रिजर्वेशन था तो दूसरी ओर, एक बालसुलभ उत्साह और चापल्य भी।

वात्स्यायन जी के निधन पर जब रेडियो बार-बार बोलता था कि वह देवरिया जिले के कसया नामक स्थान पर पैदा हुए थे तो खुद भी देवरिया जिले का होने के नाते मुझे लगता था, वे देवरिया जिले को गौरवान्वित कर रहे हैं। यह तो महज संयोग था कि देवरिया जिले में उनका जन्म हो गया था। उनके पुरातत्त्वविद् पिता उस समय बुद्ध के महापरिनिर्वाण स्थल कुशीनगर की खुदाई करा रहे थे और यहीं एक कैंप में वात्स्यायन जी का जन्म हुआ था। जिस दिन उनका जन्म हुआ था, उसी दिन यहाँ खुदाई में बुद्ध की एक महत्वपूर्ण प्रतिमा मिली थी, जिसे यहाँ के स्थानीय लोग 'माथाकुँअर' कहते हैं और इस अंचल के रहने वाले लोग जानते है कि यहाँ आसपास के ग्रामीण इलाके में कुशीनगर को भी 'माथाकुँअर' के ही नाम से जाना जाता है। कुशीनगर में बुद्धपूर्णिमा को जो मेला लगता है उसे भी यहाँ के ग्रामीण लोग 'माथाकुँअर' का मेला कहते हैं। अपने जन्मस्थान कुशीनगर से वात्स्यायन जी का बहुत ही लगाव था। जब भी अवसर मिलता, वे वहाँ जाने का कार्यक्रम बला लेते थे। इसके पीछे शायद यह भी मनोवैज्ञानिक रहस्य हो कि वात्स्यायन जी ने कोई घर नहीं बनाया।

जीवन भर परिवार से दूर रहे, बार-बार घर बदलते रहे। अनवरत यात्राएँ करते रहे। परिणामतः अपनी कविताओं में 'स्थूल घर' की तुलना में 'सूक्ष्म घर' को महत्व देते रहे। पर घर की चर्चा तो करते ही रहे। उनके आखिरी काव्य संग्रह का शीर्षक है - 'ऐसा कोई घर आपने देखा है?' इस संग्रह की 'घर' शीर्षक कविता में वे लिखते हैं - 'घर/मेरा / कोई है नहीं / घर मुझे चाहिए / घर के भीतर प्रकाश हो / इसकी भी मुझे चिंता नहीं है / प्रकाश के घेरे के भीतर मेरा घर हो -/ इसी की मुझे तलाश है।' वात्स्यायन जी ने अपने अंतिम दिनों में एक घर बनाया भी तो उसमें प्रवेश नहीं कर सके। जिस दिन उस घर में प्रवेश करनेवाले थे, उसी दिन प्रातः उन्हें दिल का दौरा पड़ा और वे उस सूक्ष्म घर में जाने के लिए मजबूर हुए, जहाँ से फिर कोई लौटता नहीं है। 5 अप्रैल को निगमबोध घाट पर उन्हें अंतिम प्रणाम करके अगले दिन जब

मैं उनके निवास पर गया तो मैंने उनका वह घर देखा, जिसे उन्होंने एक नीम के पेड़ पर बनाया था। वह लकड़ी का एक कमरा था जिसमें दीवारों की जगह तार की जाली लगी थी और दरवाजा भी तारों की जाली का। नीचे लकड़ी की फर्श और ऊपर लकड़ी की एक तिकोनी छाजन। चढ़ने के लिए लोहे की पाइप से बनी सीढ़ी। यह हवामहल उन्होंने अपने बंगले में व्यर्थ पड़े सामानों को जोड़कर खड़ा कर लिया था। इसका शिल्प उन्होंने स्वयं तैयार किया था। प्रसंगवश यहाँ उल्लेखनीय है कि वात्स्यायन जी केवल शब्दशिल्पी नहीं थे। कपड़े सिलने, जूते गाँठने और चटाई बुनने से लेकर चित्रकारी-फोटोग्राफी और बम बनाने तक उनके तकनीकी रूप को देखकर कोई भी व्यक्ति हैरत में पड़ जाएगा। 'आत्मनेपद' में उन्होंने उन तमाम कलाओं की चर्चा की है, जिनमें उनकी दिलचस्पी थी। उनके 'हवामहल' को देखते हुए मुझे उन्हीं की कविता की कुछ पंक्तियाँ याद आ रही थीं - 'सुनो मैंने कहीं हवाओं को बाँधकर / एक घर बनाया है / फूलों की गंध से उसकी दीवारों पर / मैं तुम्हारा नाम लिखता हूँ / हर वसंत में।' गुजरे जमाने में एक और बड़े शायर ने 'बे दरो-दीवार का एक घर' बनाने की चाह की थी। वात्स्यायन जी के हवामहल को देखकर बहुत इच्छा हुई कि उस पर चढ़ूँ, पर एक तो वह अवसर नहीं था और दूसरे उस मनहूस घर की सीढ़ियों को छूने से भी डर लगता था।

5 फरवरी, 83

फिर पीछे की ओर लौटता हूँ। वात्स्यायन जी 'जय जानकी जीवन यात्रा' करते हुए 3 फरवरी को कुशीनगर पहुँचे थे। वहाँ से गोरखपुर सूचना कार्यालय में भगवतीशरण सिंह का फोन आया कि अगले दिन अज्ञेय जी गोरखपुर पहुँचेंगे और मुझसे मिलना चाहते हैं। दूसरे दिन पता चला कि गोरखपुर पहुँच गए हैं, पर कई जगह फोन करने के बाद भी उनका पता नहीं चला। रात नौ बजे भगवतीशरण सिंह ने फोन पर बताया कि वात्स्यायन जी आपके स्वास्थ्य के बारे में चिंतित हैं और कई बार कह चुके कि आपके यहाँ जाना चाहते हैं। वे इसी समय जाने वाले थे, लेकिन गाड़ी खराब होने से न जा सके। कल सुबह आपके यहाँ पहुँचेंगे। उन दिनों पैर की हड्डी टूट जाने के कारण मैं पचहत्तर दिनों तक अस्पताल में था। अभी हाल ही में घर आया था और बैसाखी के सहारे घर के भीतर ही चल-फिर रहा था। वात्स्यायन जी सुबह पहुँचे। साथ में इला डालमिया, लक्ष्मीकांत वर्मा,

शंकरदयाल सिंह, भगवतीशरण सिंह और ओ.पी. शर्मा भी थे। वे बारह बजे दिन तक मेरे यहाँ बैठे रहे। मेरी जिज्ञासा पर अपनी यात्रा के कुछ संस्मरण भी सुनाए। वे लुंबिनी होकर लौटना चाहते थे, पर रास्ता खराब होने के कारण उसी दिन यहाँ से फैजाबाद होते हुए दिल्ली के लिए रवाना हो गए। इस बार वात्स्यायन जी का अपने घर आना मुझे कुछ आश्चर्यजनक लगा, क्योंकि इसके पहले मैं कई बार दिल्ली गया था, लेकिन उनसे नहीं मिला था। मेरे दिल्ली जाने की खबर उन्हें न हो, यह संभव नहीं है। उनके जैसे संवेदनशील व्यक्ति को 'फील' करने के लिए इतना कम नहीं था। लेकिन फिर भी वात्स्यायन जी आए। यह उनकी शालीनता और महानता है। वे न केवल आए, बल्कि उनके कई साथी जो गोरखनाथ मंदिर जाना चाहते थे, उनसे उन्होंने कहा, 'आप लोग गोरखनाथ, मैं विश्वनाथ।' अर्थात् आप लोग गोरखनाथ जाइए और मैं विश्वनाथ जी के पास जाऊँगा। और सचमुच वे गोरखनाथ नहीं गए। मेरे यहाँ बैठे रहे। जबकि मेरे ही घर से इला जी, शंकरदयाल सिंह आदि गोरखनाथ मंदिर गए। यह सहज मनुष्यता वात्स्यायन जी के स्वभाव की विशेषता थी। इसके बारे में मैं कई लोगों से सुन चुका हूँ और स्वयं देख चुका हूँ। रेणु जब बीमार थे तो वात्स्यायन जी सिर्फ उन्हें देखने के लिए पटना गए थे। मरने के दस दिन पहले वह सिर्फ शमशेर बहादुर सिंह को देखने सुरेंद्रनगर गए थे। ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं जिनसे उनके निकट के लोग वाकिफ हैं। वात्स्यायन जी अपने परिचितों के दुर्दिन में जरूर पहुँचे थे और यथासंभव उनकी सहायता भी करते थे। उनके इस मानवीय गुण पर उन लोगों का गौर करना चाहिए जो शब्द में तो जुड़ाव और लगाव की बात करते हैं, पर कर्म में इसका साक्ष्य नहीं प्रस्तुत करते।

17 अक्तूबर, 83

मैं दिल्ली में था। सायं काल अपने एक सहयोगी चित्तरंजन मिश्र के साथ उनके निवास पर मिलने गया। वे युगोस्लाविया का प्रसिद्ध स्वर्णमाल पुरस्कार प्राप्त कर 19 अक्तूबर को वहाँ से लौटे थे। बहुत प्रसन्न थे। उन्होंने युगोस्लाविया के पुराने गिरजाघर में तथा झील के पुल पर हुए काव्यपाठ समारोह का विस्तार से पूरा वर्णन किया। इस अवसर पर जो पुस्तक प्रकाशित हुई थी उसे भी दिखाया। बहुत ही सुंदर कागज पर छपी हुई नायाब पुस्तक,

जिसमें उनकी कविताएँ एक ओर हिंदी में छपी थीं और दूसरी ओर उनके अनुवाद मक्दूनी भाषा में। उन्होंने वह स्वर्णमाल भी दिखाया, जो उन्हें पुरस्कार रूप में प्राप्त हुआ था। उन्होंने और इला जी ने बड़े स्नेह से जलपान कराया - गुलाब जामुन, केक, मठरी आदि। केक वह स्वयं काटकर दे रहे थे। चलते समय पूछा, 'आप कहाँ रुके हैं?' मैंने बताया, 'मंडी हाउस।' बोले, 'आप लोगों को यहाँ से जाने में भटकना पड़ेगा।' उन्होंने अपनी गाड़ी से मंडी हाउस छोड़वाया। यह उनका अत्यंत सहज रूप था। दूसरों को सम्मान देने वाला रूप। वात्स्यायन जी जितने ही स्नाब थे, उतने ही विनम्र। किसके साथ क्या प्रदर्शित करना है, इसे वे बहुत अच्छी तरह जानते थे। अपने से छोटों के सामने विनम्र, बड़ों के सामने तने हुए। उन्हीं की एक कविता की दो पंक्तियाँ हैं–

मैं सभी ओर से खुला हूँ
वन सा, वन-सा अपने में बंद हूँ।

प्रसंगवश एक घटना सुना दूँ। बात 10 मई, 1975 की है वे प्रांतीय हिंदी सम्मेलन, बस्ती की अध्यक्षता के लिए आए थे। इस अवसर पर 'समकालीन हिंदी कविता' विषय पर एक विचार गोष्ठी भी आयोजित थी, जिसमें विषय प्रवर्तन करना था। ज्योंही यह गोष्ठी समाप्त हुई, उसी मंच से पं. कमलापति त्रिपाठी को भाषण देना था। त्रिपाठी जी ज्यों ही मंच पर आए, अज्ञेय जी उठ गए। त्रिपाठी जी ने बड़ी विनम्रता से अनुरोध करते हुए अज्ञेय जी को बैठाना चाहा। उन्होंने कहा, 'अज्ञेय जी, आपके दर्शन नहीं होते। बैठिए।' पर अज्ञेय जी क्षमा माँगकर वहाँ से तुरंत चल दिए। उनके निकट के लोगों के पास ऐसे सैकड़ों सस्मरण होंगे। गोरखपुर में दो बार तो मैंने ही देखा है, रेडियो वाले उनसे बार-बार चिरौरी करते रहे कि अपनी कुछ कविताएँ रिकार्ड करा दें, पर उन्होंने मना कर दिया। एक बार जब वे कुशीनगर से लौटते हुए गोरखपुर में थे तो हम लोगों ने विश्वविद्यालय में काव्यपाठ के लिए आग्रह किया, पर वे तैयार न हुए। और वहीं मेरे घर पर मोमबत्ती की रोशनी में पूरी 'असाध्य वीणा' कविता का पाठ किया। उन्होंने अपने जीवन में जितनी नौकरियाँ छोड़ी, उनमें से किसी भी एक को पाकर कोई अपने को धन्य समझेगा। वात्स्यायन जी ने कभी सत्ता की चापलूसी नहीं की, न शब्द में, न कर्म में। एक स्वतंत्र, स्वाभिमानी लेखक के रूप में जो उचित समझा, वहीं लिखा। आपातकाल में बराबर सत्ता का विरोध करते रहे। आपातकाल के अपने एक भाषण में उन्होंने कहा था, 'इस समय देश की प्रवृत्ति अनुशासन

पर जोर देने की है। जो कह दिया उसे मान लेना अनुशासन है। क्या सोचना अनुशासन नहीं है? जो देश या समाज स्वतंत्र ढंग से सोच नहीं सकता, वह स्वतंत्र नहीं हो सकता।' स्वाधीनता को जीवन का मूल्य स्वीकार करने वाले वात्स्यायन जी अपनी शर्तों पर जिए और अपनी ही शर्तों पर मरे। जितना शानदार रहा उनका जीवन, उतनी ही शानदार मिली उन्हें मौत।

20 सितंबर, 84 को साहित्य अकादमी, दिल्ली में मेरा काव्यपाठ था। दिल्ली के लगभग पचास साहित्यकार श्रोता उपस्थित थे। मुझे बहुत आश्चर्य हुआ यह देखकर कि वात्स्यायन जी भी श्रोताओं में बैठे थे। काव्यपाठ समाप्त होने के बाद जब मैं मिला तो बोले, 'आज अखबार में आपका कार्यक्रम पढ़ा था। गाड़ी नहीं थी। टैक्सी लेकर आया। मेरे भाई अस्पताल में भरती हैं, वहीं से सीधे आ रहा हूँ।' मैं बार-बार सोचता रहा हूँ कि वात्स्यायन जी के मुझ पर स्नेह का क्या कारण हो सकता है? उनके प्रति अपने व्यवहार का विश्लेषण करते हुए पाता हूँ कि मैंने कभी उन्हें उतना आदर नहीं दिया, जितने के वे अधिकारी थे। मैं प्रायः दिल्ली जाता था और उनसे नहीं मिलता था। अपनी दिल्ली यात्राओं में मैं जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय जरूर जाता था और या तो वहीं केदार जी के घर ठहरता था या उसी विश्वविद्यालय के गोमती गेस्ट हाउस में। जब वात्स्यायन जी पूछते कि आप कहाँ रुके हैं तो उन्हें बता भी देता था। 'दस्तावेज' का पहला विशेष अंक मैंने जिस जीवित साहित्यकार पर केंद्रित किया वह रामविलास शर्मा हैं। जब वात्स्यायन जी से उन पर अंक केंद्रित करने की चर्चा की तो उन्होंने पूछा, 'और किस-किस पर अंक केंद्रित करने की योजना है?' मैंने जिन कुछ लोगों का नाम लिया उनमें नामवर सिंह का नाम भी था। फरवरी, 1982 में आबू (राजस्थान) के वत्सलनिधि लेखक शिविर में वात्स्यायन जी ने मुझे आमंत्रित किया था। मैं दिल्ली तक गया था, लेकिन वहीं से लौट आया। उनसे मिला भी नहीं और लेखक शिविर में भी नहीं गया। अगस्त 1986 में वत्सलनिधि की ओर से वाराणसी में मैथिलीशरण गुप्त पर एक आयोजन था, जिसमें मुझे पर्चा पढ़ना था और एक गोष्ठी का संचालन भी करना था। लेकिन मैं उसमें नहीं गया और जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में एक मौखिक परीक्षा लेने चला गया। तात्पर्य यह कि मेरे व्यवहार में वात्स्यायन जी को नाराज करने के लिए काफी सामग्री थी और मैंने उनके प्रति किसी प्रकार का अतिरिक्त आदर भाव या भक्ति नहीं प्रदर्शित की। उनसे कभी किसी काम के लिए नहीं

कहा। अपना एक तटस्थ और स्वतंत्र रूप बनाए रहा। मिलता था तो यों ही एक सहज साहित्यिक लगाव से और जब भी मिलता था, उनके घोषित विरोधी लेखकों की भी चर्चा करता था। लेकिन वात्स्यायन जी ने इसका कभी बुरा नहीं माना। यह सही है कि उन्होंने मुझे अपना अंतरंग नहीं माना। मेरे साथ कोई अतिरिक्त लगाव नहीं जाहिर होने दिया, न अपने को ज्यादा खोला। यहाँ तक कि 'दस्तावेज' को कभी अपनी रचनाएँ भी नहीं भेजीं। पर मुझे अपने सहज स्नेह का पात्र जरूर स्वीकार किया और जितना नहीं किया, उसके लिए शायद मैं ही जिम्मेदार हूँ।

वात्स्यायन जी से इतनी ही मुलाकातें नहीं हैं, जितनी ऊपर चर्चा की है। पिछले बीस वर्षों में अनेक बार गोष्ठियों-यात्राओं आदि में भेंट होती रही है। यहाँ केवल दो प्रसंगों की चर्चा और करना चाहूँगा। एक, जब वे आखिरी बार मेरे घर आए थे और दूसरा जब आखिरी बार उनसे मेरी मुलाकात हुई थी।

3 सितंबर, 86 को दिल्ली से उनका पत्र मिला था, जिसमें उन्होंने बाल्मीकिनगर में होने वाले वत्सलनिधि के सातवें लेखक शिविर में मुझे आमंत्रित किया था। उसके बाद वह जर्मनी चले गए थे और बीच में कोई पत्र व्यवहार नहीं हुआ। मैंने शिविर में जाने की स्वीकृति तो भेज दी थी, पर बीच में लगातार पेट की गड़बड़ी से अस्वस्थ था और न जाने का फैसला ले चुका था। लेकिन जब वात्स्यायन जी इला जी के साथ गोरखपुर (बाल्मीकि नगर का रास्ता गोरखपुर से होकर जाता है) पहुँच गए तो संकोच में जाना ही उपयुक्त समझा। इसके पूर्व वाराणसी में वत्स्यलनिधि के मैथिलीशरण गुप्त समारोह में भी नहीं गया था। अबकी अगर नहीं जाता तो स्वाभाविक रूप से समझा जाता कि मैं पेट गड़बड़ी का बहाना बनाकर उनकी उपेक्षा कर रहा हूँ। यह सब सोचकर अस्वस्थ होते हुए भी बाल्मीकिनगर गया। अब उनके न रहने के बाद सोचता हूँ कि यदि उनका यह आखिरी निमंत्रण अस्वीकार कर देता तो बाद में अपने को अपराधी महसूस करता।

वात्स्यायन जी के चुनाव का जवाब नहीं होता। कोई-न-कोई विशिष्टता उनके चुनाव में जरूर दिखाई जाएगी। इस छोटे से निर्जन स्थान के चुनाव में भी उनके शांतिप्रेमी व्यक्तित्त्व का परिचय मिल जाता हे। यहाँ नदी भी है, पहाड़ भी, जंगल भी। तीनों का शांत, शालीन रूप। नहीं जिसे यहाँ 'बड़ी गंडक', 'नारायणी', 'शालिग्राम', 'तुलसी' आदि कई नामों से पुकारा जाता है और जिसका पुराना नाम 'सदानीरा' है (इसी नाम से वात्स्यायन जी की संपूर्ण

कविताएँ दो खंडों में प्रकाशित हुई हैं।) यहाँ बहुत ही मस्ती के साथ बहती है – पुराने कवियों की गजगामिनी नायिका–सी। पहाड़ भी बहुत निकट नहीं है यहाँ, लेकिन किरणों में हिमालय का प्रसिद्ध धौलागिरी शृंग चमकता रहता है दिनभर। जंगल भी प्रायः खामोश जंगल है, लेकिन प्रातःकालीन हवा जब वृक्षों और पत्तियों से होकर गुजरती है तो एक बहुत ही मंद, मीठा, आनंददायक शोर कानों को सुकून देता है। सायंकाल यहाँ का विराट परिदृश्य, क्षितिज पर नदी–जल में डूबता हुआ सूरज और धीरे–धीरे घिरती हुई साँझ आकर्षित करती है।

वत्सलनिधि के इस लेखक शिविर में चर्चा का केंद्रीय विषय था – 'पुराण, विज्ञान और रचनात्मक साहित्य', जिस पर लगातार सात दिनों तक मूल्यवान चर्चा होती रही। शिविर के लेखकों के प्रति वात्स्यायन जी का व्यवहार बहुत ही आत्मीय था। वे उनकी सुख–सुविधाओं का बराबर खयाल रखते थे। समय के वे इतने पाबंद थे कि जिस समय पर जो कार्यक्रम होता था, ठीक उस समय से पाँच–दस मिनट पहले वात्स्यायन ही वहाँ उपस्थित। प्रायः रोज ही ऐसा हाता कि अभी मैं स्नान आदि की प्रक्रिया में हूँ कि वात्स्यायन जी तैयार होकर मेरे कमरे के दरवाजे पर खड़े दिख जाते। उनके भीतर एक गंभीर अनुशासन था। उनकी उपस्थिति में हर गोष्ठी में एक गंभीरता बनी रहती थी। लफ्फाजी वहाँ नहीं चल सकती थी। वात्स्यायन जी चीजों पर गंभीरता से विचार करते, धीरे–धीरे बोलते, कम बोलते और विचारों को पचाकर स्पष्ट ढंग से प्रस्तुत करते। उनके वाक्य विन्यास, उनकी प्रस्तुति और सोच में एक नवीनता की चमक बराबर दिखाई पड़ती थी। तार्किक इतने थे कि बहसों में पूछे गए प्रश्नों को ही उलटकर उत्तर बना देते थे। मैंने देखा, पूरे शिविर में उन्होंने किसी वक्ता पर अपने को लादने की कोशिश नहीं कि, न किसी की बात में कोई हस्तक्षेप किया। बराबर सुनते रहे और जब उनसे अनुरोध किया जाता, तभी बोलते या बहुत जरूरी समझते तभी कुछ कहते। किसी प्रकार के गुस्से या आक्रमण की कोई मुद्रा नहीं। हमेशा एक बड़े लेखक की गरिमा के अनुकूल बोलना और व्यावहार करना वात्स्यायन जी को अन्य तमाम लेखकों से अलग करता था। दूसरों की बातों को बहुत ध्यान से सुनना और बहुत गौर से बोलनेवाले की मुद्राओं को भी ध्यान में रखना वात्स्यायन जी की विशेषता थी। गोष्ठी में एक दिन रमेशचंद्र शाह किसी चर्चा के दौरान बार–बार कह रहे थे कि 'इस बात को आगे बढ़ाने की जरूरत है।' वे 'आगे बढ़ाने' पर बहुत जोर दे रहे थे और अपनी सहज आदतवश अपनी दोनों

हथेलियों को गोलाई में घुमाते हुए (जैसे दाल दरनेवाली चक्की घुमाई जाती है) अपनी बातें कहते जा रहे थे। वात्स्यायन जी ने टोकते हुए कहा, 'रमेश जी, आप बात को 'आगे बढ़ाने' पर बार-बार जोर दे रहे हैं, पर अपनी हथेलियाँ ऐसे घुमा रहे हैं जैसे 'लीपा-पोती' करने के लिए कह रहे हों।' यह सूक्ष्म पकड़ जो किसी भी रचनाकार की बुनियादी विशेषता होती है, वात्स्यायन जी में बेमिसाल थी। वे चीजों के प्रति, बाह्य दुनिया के प्रति इतने चौकन्ने रहते थे और उनकी इंद्रियाँ इतनी सचेत रहती थी कि कभी-कभी आश्चर्य होता था।

एक दिन हम लोग जंगल में पर्यटन के लिए निकले थे। तय हुआ था कि एक-दो गोष्ठियाँ गोष्ठी स्थल से दूर कहीं अन्यत्र हों। हम लोग जंगल में चार-पाँच किलोमीटर दूर तक पुराने मंदिर के चबूतरे पर बैठे। इस मंदिर को नरदेवी का मंदिर कहा जाता है। बातें हो रही थीं कि इसी बीच किसी पक्षी की हलकी सी आवाज आई। किसी ने सुनी, किसी ने नहीं। वात्स्यायन जी ने वहाँ के एक व्यक्ति से पूछा, 'यह किस पक्षी की आवाज थी?' वहाँ कोई यह नहीं बता सका क्योंकि किसी ने उस आवाज पर ध्यान ही नहीं दिया था। पशु-पक्षियों और वनस्पतियों के बारे में जितनी जानकारी वात्स्यायन जी को थी, उतनी मेरी जानकारी में हजारीप्रसाद द्विवेदी को छोड़कर शायद ही किसी हिंदी लेखक को हो।

अपनी मितवादिता के लिए वात्स्यायन जी प्रसिद्ध थे। मैंने इसके अनेक उदाहरण अनेक अवसरों पर लक्ष्य किए हैं। वे एक वाक्य में धीरे से कुछ ऐसे उत्तर देते, जिसमें हल्का सा व्यंग्य भी होता, विनोद भी, प्रश्न का गहराई से दिया निरुत्तर करने वाला उत्तर भी। एक गोष्ठी में श्रीराम वर्मा अपनी सोच के मुताबिक बार-बार ईश्वर के बारे में जिज्ञासा करने लगे। मैंने कई बार उनसे कहा कि वर्मा जी यहाँ 'ईश्वर' को मत लाइए। पर वे बार-बार जोर देकर कहने लगे, 'इस पर बहस होनी चाहिए। यह मेरी जिज्ञासा है।' बहस को देर तक खिंचती देख वात्स्यायन जी ने धीरे से कहा, 'श्रीराम जी, इस सवाल का उत्तर आपको ईश्वर ही दे सकता है।'

वात्स्यायन जी नए प्रसंगों के लिए विख्यात रहे हैं। नई कविता से लेकर 'हवा महल' (जो वास्तुशिल्प का और उनके जीवन का शायद आखिरी प्रयोग था।) तक रचना के क्षेत्र में जितने नए प्रयोग उन्होंने किए हैं, उतने शायद ही किसी रचनाकार ने किए हों। सिर्फ भारतेंदु ने अपने जमाने में किए थे। गद्य की अनेक नई विधाओं को जन्म देने का श्रेय

वात्स्यायन जी को ही। इधर उन्होंने कविता में एक नया प्रयोग किया था – कई कवियों द्वारा मिलकर कविता लिखने का प्रयोग। जब श्रीकांत वर्मा जीवित थे तो उनके घर पर अज्ञेय, आक्टेवियो पाज (मैक्सिको के प्रसिद्ध कवि) और श्रीकांत वर्मा ने मिलकर एक कविता लिखी थी। बाद में वह प्रकाशित भी हुई थी। मेरा खयाल है, यह आइडिया वात्स्यायन जी का ही रहा होगा। इस शिविर में भी उन्होंने इस प्रकार का प्रयोग करने को कहा। नरदेवी मंदिर के चबूतरे पर उन्होंने इसका एक प्रारूप बनाया और कहा कि चार कवि मिलकर एक कविता लिखें – विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, रमेशचंद्र शाह, नंदकिशोर आचार्य और अज्ञेय। कविता की पहली पंक्ति लिखें, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी। फिर सभी लोग एक-एक पंक्ति लिखकर क्रम से उसे आगे बढ़ाएँ। कविता की अंतिम दो-दो पंक्तियाँ लिखेंगे क्रमशः विश्वनाथ प्रसाद तिवारी और अज्ञेय। ऐसा ही हुआ और एक अच्छी कविता बन गई। मैं स्वीकार करता हूँ कि मेरे द्वारा पूरी की गई अंतिम दो पंक्तियाँ अज्ञेय द्वारा पूरी की गई अंतिम दो पंक्तियों से कमजोर थीं। इस कविता के लिखने में मैंने भी एक प्रयोग कर दिया। मैंने जानबूझकर कविता की पहली पंक्ति अपनी पहले की लिखी गई कविता से ली थी। मैं देखना चाहता था कि एक कवि के लिखने और कई कवियों के मिलकर लिखने में क्या फर्क पड़ जाता है! बाद में मैंने अपनी वह कविता वहाँ सबको सुनाई भी। दोनों कविताओं में एकदम अंतर आ गया था। यह एक व्यक्ति की रचनाप्रक्रिया और मिली-जुली रचनाप्रक्रिया का स्वाभाविक अंतर था।

इस शिविर के दौरान मुझे ज्यादा समय तक अज्ञेय को निकट से देखने का अवसर मिला। मैं बार-बार सोचता रहा कि लेखकों में उनका इतना विरोध क्यों है? नए लेखक क्यों उनके नाम से ही बिदक जाते हैं और कुछ तो उन्हें 'प्रतिक्रियावादीश, 'पूँजीवादी' और यहाँ तक कि 'सी.आ ई.ए.' से जुड़ा हुआ लेखक क्यों कहने लगते हैं? क्या इसका को आधार है या यह केवल प्रचार मात्र हैं? अज्ञेय-विरोध का एक कारण तो उनका स्वभाव ही हो सकता है। वे विशिष्ट अभिजात स्वभाव वाले, शालीन संस्कारों वाले मितभाषी गंभीर व्यक्ति थे। सबसे उसके स्तर से उतरकर हिल-मिल सकते थे। सबकी चालू, लफ्फाजी वाली लंतरानियों में हिस्सा नहीं ले सकते थे। भावुकता में या स्वार्थ में किसी के मुँह पर उसकी प्रशंसा नहीं कर सकते थे। किसी लेखक या लेखकों के साथ बैठकर उन्हें घंटों परनिंदा का रस नहीं पिला सकते थे। इससे वे अपने आप अपने चारों

ओर एक लक्ष्मणरेखा खींच लेते थे और लेखकों के बीच उनके व्यक्तित्त्व का साधारणीकरण नहीं हो पाता था। उनके विरोध का दूसरा यह लगता है कि वे मार्क्सवादी नहीं थे। जो लोग दलीय प्रतिबद्धता को ही लेखन की सबसे बड़ी कसौटी मानते हैं, उन्हें ज्योंही पता लगता है कि अमुक लेखक हमारे दल का नहीं है त्योंही उसका विरोध शुरू कर देते हैं। किसी लेखक के व्यक्तित्त्व या कृतित्त्व से परिचित हुए बिना उसके विरोध का यह अद्‌भुत तरीका है। इसमें सबसे ज्यादा काम करता है प्रचार। इस प्रकार का प्रभाव यह है कि आपको छोटे-छोटे कस्बों में ऐसे-ऐसे लेखक अज्ञेय को गरियाते मिल जाएँगे, जिन्होंने उनका न तो कुछ पढ़ा है, न कभी उनसे मिले हैं। है न यह आश्चर्य की बात! अज्ञेय विरोध के संबंध में ऐसे लेखकों को चर्चा तो व्यर्थ है, पर इस प्रसंग में मैं समकालीन साहित्य के प्रतिष्ठित आलोचक नामवर सिंह के तीन बयानों की चर्चा करना चाहूँगा –

1. नामवर जी ने कुछ दिनों पूर्व अपने दो-तीन भाषणों में कहा है कि गुलशन नंदा और अज्ञेय ने भाषा का व्यावसायिकीकरण (कमर्शियलाइजेशन) किया है।
2. उन्होंने टेलीविजन पर अपने इंटरव्यू में कहा है कि अज्ञेय का हिंदी साहित्य में वही स्थान है, जो रीतिकाल में बिहारीलाल और आधुनिक काल में महादेवी वर्मा का है।
3. जबलपुर के अपने भाषण में (विवरणिका, मध्यप्रदेश हिंदी साहित्य सम्मेलन, भोपाल, मार्च 1987) गद्य के पतन के लिए जिम्मेदार लेखकों के असहज व उच्चाभाविक व्यक्तित्त्व व कृतित्त्व पर प्रहार करते हुए नामवर सिंह ने कहा कि, श्गद्य का पतन जिनके कारण हुआ वे इतने गंभीर हैं! चिड़ियाघर की किसी चिंपांजी के समान व मनहूस दिखाई देते हैं।' जाहिर है कि नामवर जी भाषा के व्यवसायिकीकरण और गद्य के पतन के लिए अज्ञेय को जिम्मेदार ठहराते हैं तथा उनका नाम कवियों में बिहारी लाल और गद्यकारों में गुलशन नंदा के साथ रखते रखते हैं। भाषा की पवित्रता के लिए जीवन भर लड़ने वाले, न केवल रचनात्मक लेखन, बल्कि हिंदी पत्रकारिता को भी एक समर्थ भाषा देनेवाले तथा भाषा का अत्यंत नैतिक उपयोग करने वाले अज्ञेय जैसे लेखक के लिए क्या ये टिप्पणियाँ उपयुक्त हैं? नामवर जी को अपने इन बयानों पर पुनर्विचार करना चाहिए। साहित्य का इतिहास प्रमाण है कि आने वाली पीढ़ियाँ

असंगत बयानों के लिए बड़े-से-बड़े आलोचक को कठघरे में खड़ा कर देती हैं।

मैं थोड़ा बहक गया हूँ। मैं वात्स्यायन जी का मूल्यांकन करने नहीं बैठा हूँ, उनके बारे में अपने संस्मरण लिख रहा हूँ। मैं 19 अक्तूबर को उनके साथ बाल्मीकिनगर गया था और 26 अक्तूबर को साथ ही लौटा। उस दिन सायंकाल शिविर के सभी लेखक मेरे निवास पर अल्पाहार के लिए आमंत्रित थे। संयोग से उस दिन विद्यानिवास जी भी गोरखपुर में थे और वहीं आए थे। मैंने बाल्मीकिनगर में एक कैमरा खरीदा था जिसका उद्घाटन वात्स्यायन जी से ही वहीं कराया था। उस कैमरे से अपने निवास पर वात्स्यायन जी के कई चित्र खींचे। फिर हम लोगों (रामचंद्र तिवारी, चित्तरंजन मिश्र आदि) ने उन्हें वैशाली ट्रेन से दिल्ली के लिए विदा किया। यह वात्स्यायन जी की मेरे घर पर आखिरी उपस्थिति थी।

11 जनवरी से 13 जनवरी, 87

भोपाल के भारत भवन में 'समवाय' (आलोचना त्रैवार्षिकी) का पहला आयोजन था। अज्ञेय पहली बार भारत भवन के किसी आयोजन में शरीक हुए थे। इस आयोजन में शरीक होने वाले सभी लेखकों ने महसूस किया कि पूरे आयोजन पर आद्योपांत अज्ञेय ही छाए रहे। यह स्वाभाविक भी था। अज्ञेय का अनुभव और अध्ययन व्यापक था और उनका अपना एक मुकम्मल तर्कशास्त्र भी है। अपनी बातें वे इतने व्यवस्थित और संतुलित ढंग से रखते थे कि उनका विरोध तत्काल तो संभव नहीं होता था। इसलिए जिस भी गोष्ठी में वे होते थे, छाए रहते थे। इस गोष्ठी में अज्ञेय ने एक बात बड़ी पीड़ा के साथ कही और अधिकांश लोगों ने इसे महसूस भी किया। उन्होंने कहा - 'आपको अज्ञेय के नाम से परहेज है तो उसका नाम काट दें, लेकिन उसका लिखा हुआ एक बार पढ़ तो लें। मैं उन प्रश्नों पर वर्षों से विचार करता और लिखता आ रहा हूँ जिन पर आप यहाँ चर्चा कर रहे हैं। आपसे यह अनुरोध करने के लिए मेरे पास तो अब अधिक वक्त नहीं रह गया है, पर आपको उन सवालों से टकराना ही होगा, जिनकी चर्चा मैं बार-बार करता रहा हूँ।' अज्ञेय की उम्र (76 वर्ष) का स्मरण करके उनके इस कथन से गोष्ठी में उपस्थित तमाम लेखक हिल गए थे। अज्ञेय की यह पीड़ा उनकी सच्ची पीड़ा थी। जैसा कि मैं कह चुका हूँ, अज्ञेय को बिना पढ़े गाली देने वालों की संख्या हिंदी में कम नहीं है। मैं खुद अपने अनुभव से कह सकता

हूँ कि जब-जब मैंने अज्ञेय को दूसरे की जुबान से देखा है वे एक खराब लेखक दिखाई पड़े है और जब-जब अपनी आँख से देखा है उनके व्यक्तित्त्व और लेखन, दोनों से बहुत कुछ पाया है।

भोपाल के 'समवाय' आयोजन में बहुत से दूसरे भाषा-भाषी लेखक नहीं आ सके थे, इसलिए गोष्ठी एक दिन पहले समाप्त हो गई। श्रीराम वर्मा ने मुझसे कहा कि भीमबेटका चलने के लिए वात्स्यायन जी को प्रेरित करूँ तो गाड़ी की व्यवस्था हो जाएगी और हम लोग उनके साथ देख लेंगे। मैंने वात्स्यायन जी से कहा। वे तैयार हो गए। अशोक वाजपेयी ने गाड़ी की व्यवस्था कर दी। 14 जनवरी की प्रातः जाने का कार्यक्रम बन गया था। 13 जनवरी को सायंकाल इला जी ने मुझसे कहा कि ऊँचाई पर चढ़ते हुए उनकी साँस चढ़ती है। पर वात्स्यायन जी का कहना है कि जब विश्वनाथ जी को वायदा कर दिया तो चलूँगा ही। मैं नीचे बैठा रहूँगा और आप लोग जाकर देख आइएगा। इला जी ने कहा कि अब आप ही वात्स्यायन जी को मना कर दें, तभी काम बन सकता है। मैंने वात्स्यायन जी से कहा कि मौसम बहुत खराब है, कुहरीला है और मैं कल प्रातः ही गोरखपुर जाना चाहता हूँ, अतः आपसे अनुरोध है कि भीमबेटिका की यात्रा स्थगित कर दें। वे मान गए और इस प्रकार मैंने बहाना करके तथा झूठ बोलकर वह यात्रा स्थगित कराई। वे दूसरों की सुविधा और अपने वादे का इतना खयाल करते थे कि खुद भारी असुविधा उठाने को तैयार हो जाते थे।

अज्ञेय ऐसे लेखक न थे जो अपने एकांत कमरे में बैठकर शब्द और अर्थ की साधना करते रहते है। उन्होंने देश की आजादी के लिए क्रांतिकारियों के साथ काम किया। एक निर्भीक पत्रकार के रूप में अनेक पत्रों के माध्यम से देश की समस्याओं को बहस का मुद्दा बनाया। 'दिनमान' के संपादक के रूप में बिहार के सूखाग्रस्त इलाकों की यात्रा की। अनेक साहित्यिक आयोजनों और पत्र-पत्रिकाओं द्वारा न केवल लेखकों को लिखने की प्रेरणा दी, बल्कि उन्हें संगठित और प्रकाशित भी किया। हिंदी के अनेक प्रतिष्ठित लेखकों को - जिनमें मार्क्सवादी लेखक भी हैं - उनका यह ऋण स्वीकार करना चाहिए जिनकी निर्मित में वात्स्यायन ही का महत्वपूर्ण योगदान है। यह सच है कि उनमें से कई अब चुक गए हैं। लेकिन स्वयं वात्स्यायन जी मृत्यु के आठ घंटे पहले तक शब्द और कर्म की दुनिया में सक्रिय रहे। उनकी इस अनवरत सक्रियता का अक्षय स्रोत मानव विवेक में उनकी दृढ़ आस्था थी, जिसे वे अपने संपूर्ण लेखन में बार-बार रेखांकित करते रहे। वे मानते थे कि 'सब प्रतिमानों का, सब मूल्यों का स्रोत

मानव का विवेक है।' वे जानते थे कि 'योद्धा पिछड़ भी जा सकता है, पर जाग्रत आत्मा कभी नहीं पिछड़ती।' केवल प्रचार के वशीभूत हो वात्स्यायन को व्यक्तिवादी और कलावादी मानने वाले पाठकों को उनका लिखा हुआ स्वयं पढ़ना चाहिए और उस पर खुद अपनी आँख से विचार करना चाहिए। और अंत में कहना चाहूँगा कि कुछ व्यक्तियों की कोई स्मृति नहीं बन पाती। कुछ की स्मृति बनी रहती है। वात्स्यायन जी एक एक ऐसे व्यक्तित्त्व संपन्न लेखक थे, जिनकी स्मृति बहुत समय तक बनी रहेगी।

❐❐❐